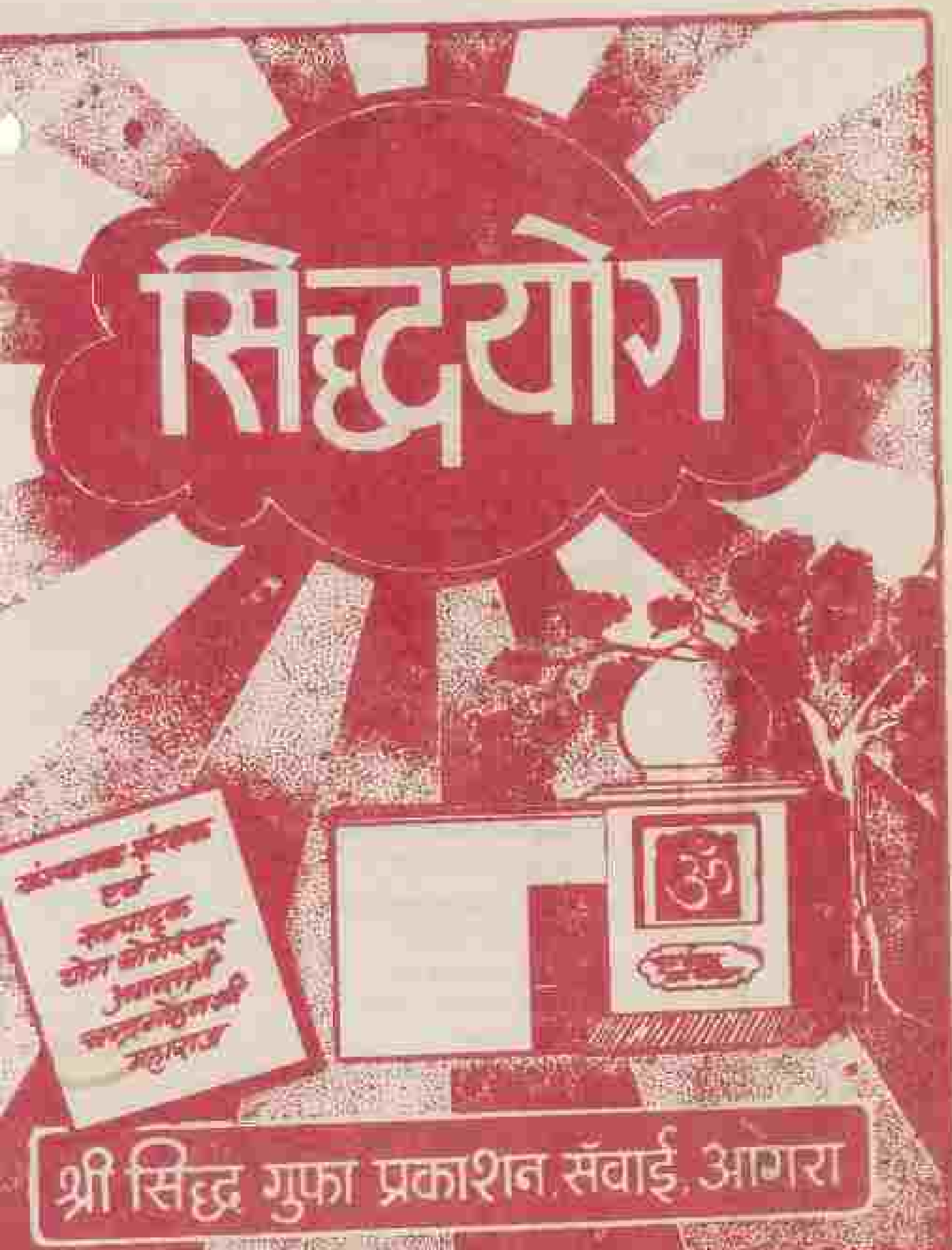


वर्ष १९ अगस्त १९८६ ई- अंक ५

## इस अंक में—

प्रकाशक

**श्री सिद्धगुफा, बम्बई**


* तुभ्योऽस्तुतागुणमानं (प्रार्थना) वैराग्यशतकम् १
* योगी को मृत्यु का ज्ञान (विशेष लेख) २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
* इस गम्भीर गोरसैम ८
  श्री बंशीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
* उद्बोधन (कविता) १४
  महाकवि श्री शङ्कर
* जीवित रहने की कला—अध्यात्म १५
  श्री रत्नाकर शास्त्री
* साधना की साथ (पत्रकालम) १७
  श्री ओमप्रकाश दीक्षित
* पंच-पुण्य-फल-तोयम् १८
* मन को सद्गुरु के अर्पण करदो २०
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
* मानसिक तनाव से मुक्ति २४
  श्री शिवानन्द
* निर्विकल्प बनने के तीन महामन्त्र ३०
  श्री अगरचन्द नाहटा
* सर्व समस्याओं का समाधान योग ३३
  डा० श्री विजयसिंह
* मन्त्रियों एवं सद्गुरु महिमा ३८
  श्री राजेन्द्रप्रसाद पाठक
* शक्ति एवं शक्तिमान ४५
  स्वामी श्री विष्णुतीर्थजी महाराज
* मुद्रा और बन्ध ४८
  योग पथ का एक पथिक


संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

अगस्त

वार्षिक मूल्य ३० रुपया । इस अङ्क का ४ रुपया

# सिद्ध योग

## योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र


श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई ( एत्मादपुर ) आगरा ।

वर्ष १८ अङ्क ५ — अगस्त १९८६


ध्यात्वा ध्यात्वा सच्चित् परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विनिस्तो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविध योगमार्गोपदेशात्,
कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

### ❀ तृष्णेऽधुना मुञ्चमाम् ❀

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्चमाम् ॥

अर्थात्

हे तृष्णे ! अब तो मुझे छोड़, अरी मैंने तेरे चक्कर में पड़कर खजाने की खोज की इच्छा से सारी पृथ्वी खन डाली, रसायन सिद्धि के फेर में पड़कर पर्वतीय समस्त धातुओं को फूंक डाला, धन की इच्छा से समुद्र को भी पार किया, मन्त्रों को जगाने के लिए श्मशान में अनेक रात्रियाँ व्यतीत की पर आज तक एक कानी कौड़ी भी हाथ नहीं लगी ।

—वैराग्यशतक

हमारा विशेष लेख—

✽ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगी को तथा सत्वगुण प्रधान पवित्र आत्माओं को मृत्यु का पूर्व आभास किस प्रकार हो जाता है तथा कैसे वे अपनी मृत्यु के समय तिथि आदि की घोषणा करके अपने निकटस्थ जनों को सूचित कर दिया करते हैं, इस रहस्य का उद्घाटन योग-दर्शन के आधार पर अपने इस लेख में किया है पूज्य श्री गुरुदेवजी महाराज ने। आशा है पाठक इसमें वर्णित तथ्यों और उपायों को अपनी साधना का अङ्ग बनाने का सद् प्रयास करेंगे अथवा करने का अभ्यास करेंगे। —सं० सं०

# योगी को मृत्यु का ज्ञान

योगी को मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है यह एक विचारणीय एवं गहन विषय है। किन्तु संसार में कुछ ऐसा भी देखने में आता है कि जो लोग स्वाध्यायशील, तपस्वी एवं पुण्यात्मा होते हैं उनको अपने मन की पवित्रता से स्वाभाविक ही मृत्यु का ज्ञान हो जाया करता है। यद्यपि वे लोग योगी नहीं होते किन्तु इनके अपने अन्तःकरण की पवित्रता के कारण इनको यह आभासित हो जाता है कि अमुक दिन इतने बजे तक मेरा यह शरीर छूट जायेगा। हमारे अपने सन्यासियों में भी ऐसे कितने ही व्यक्ति हुए हैं जिनको अपने मनकी पवित्रता से ही मृत्यु का ज्ञान होगया था। इनकी चर्चा हम समय-समय पर 'सिद्धयोग' में प्रकाशित भी करते रहे हैं। 'सिद्धयोग' के पाठक यदि चाहें तो उनके स्थानों पर जाकर पूरी-पूरी जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं। आज के इस लेख का विषय तो केवल मात्र यही है कि सर्वसाधारण को मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है और योगी को मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है? योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने मृत्यु ज्ञान प्राप्त करने का स्पष्ट मार्ग एक सूत्र में सूचित किया है। एक सूत्र के अन्दर मृत्यु ज्ञान के जो उपाय बतलाए गए हैं वे सब उपाय योगी को ही प्रकट होते हैं, ऐसी बात नहीं है। योगी को तो मृत्यु का ज्ञान अपने अच्छे और बुरे कर्मों में संयम करने से हुआ ही करता है, किन्तु अधिकांश में संसार में पुण्यात्मा लोगों को भी मृत्यु का ज्ञान विविध प्रकार से होता है। इस बात को हम सविस्तार उदाहरणों सहित समझाने का प्रयास कर रहे हैं। भगवान पतञ्जलिदेव ने जो सूत्र इस सम्बन्ध में दिया है वह निम्नांकित है:--

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। —योग० ३/२२

अर्थात्—आयु को बतलाने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक का नाम सोपक्रम कर्म और दूसरे का नाम निरुपक्रम कर्म है। योगी अपने संयम के बल से जब इन कर्मों को यथाविधि देखता है तो यह जान लेता है कि आयु का दाता यह कर्म मेरा कब समाप्त हो जायगा। यह ज्ञान योगी को अपने संयम के आधार पर हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण पुण्यात्मा लोगों को मृत्यु के समय जो लक्षण प्रगट हुआ करते हैं उनसे उनको मृत्यु का ज्ञान हो जाया करता है। श्री महामुनि व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में इन सोपक्रम कर्म एवं निरुपक्रम कर्म तथा मृत्यु काल में प्रगट होने वाले अरिष्टों (लक्षणों) का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येत् एवं निरुपक्रमम्, यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च, तत्संयमाद् अपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्। अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति, तत्राध्यात्मिकम्—घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति, तथाऽऽधिभौतिकम्-यमपुरुषान्पश्यति, पितॄनतीतानकस्मात्पश्यति, आधिदैविकं-स्वर्गमकस्मात्सिद्धान् वा पश्यति विपरीतं वा सर्वमिति, अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति।

अर्थात्—आयु जिनका फल है ऐसे कर्म दो प्रकार के होते हैं। उनमें से एक का नाम सोपक्रम कर्म और दूसरे का नाम निरुपक्रम कर्म है। सोपक्रम कर्म का अर्थ है जो उपक्रम के साथ कर्मविपाक का भुगतान जल्दी करा दे। इसको इस प्रकार समझें जैसे हम किसी भीगे वस्त्र को जल्दी सुखा लेना चाहते हैं तो उसका यही एक उपाय होगा कि उस वस्तु को हम कड़ी धूप में खूब निचोड़ दें और उसके बाद नहीं तेज धूप या तेज हवा में फैलाकर सुखा दें। इस प्रकार वह वस्त्र बहुत जल्दी मात्र दो-चार दस मिनट में ही सूख जायेगा। इसी तरह एक योगाभ्यासी योगी जिसका स्वरूप ज्ञानमय बन चुका है और अपने आपको जो आत्मस्थिति में रखा करता है उसका कोई भोगप्रद कर्म भी उसके अपने योगाग्नि के प्रभाव से जल्दी से जल्दी समाप्त हो जाता है। उदाहरण के

लिए मेरे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री राम-लाल के चरित्रों में अनेक ऐसी कथाएं आई हैं, जिनमें उन्होंने सोपक्रम क्लिष्ट कर्म-विपाक को क्षणों में भुगतान करा दिया। जैसे गोपालधाम के चरित्रों में हमारे दादा गुरु एक बार श्री प्रभुजी को साथ लेकर कांगड़ा के पहाड़ पर आए वहां पर एक ऋषि बैठे हुये थे जिनकी आयु लगभग सात सौ वर्ष की थी। वह उदास मन से बैठे थे। महाप्रभुजी ने तथा हमारे दादागुरु जी ने उनसे पूछा कि क्यों महात्मन् कैसे उदास बैठे हो, उन्होंने उत्तर दिया कि प्रभो आपकी कृपापूर्वक मैंने अपने इस शरीर को लगभग सातसौ वर्षों तक कायम रखा है और सब प्रकार से कर्मक्षय कर चुका हूं अब मैं यह चाहता हूं कि मेरा आत्मा आपके शाश्वत रूप में विलय हो जावे और मैं अपने शरीर का त्याग कर दूं। उनकी इस भावना को जानकर श्री महाप्रभुजी ने पुनः पूछा कि निश्चय ही क्या तुम अपने जन्म-जन्मान्तरों के सभी कर्मजालों को देख चुके हो और उन जन्मों के अन्दर किए हुए सभी कर्मों का भुगतान कर चुके हो? उन्होंने उत्तर में कह दिया कि हां महाराज अब मेरे ऊपर कोई कर्म बन्धन शेष नहीं है। इसके बाद श्री महा-प्रभु जी ने कहा कि नहीं तुम्हारे अभी सभी कर्म शेष हैं वही तुम्हें जन्म दे देंगे और वह जन्म तुम्हारा उन्हीं के भोग में समाप्त हो जायेगा। तुम अपना एकसौ सातवां जन्म देखो और साथ ही एकसौ ग्यारहवां जन्म देखो। और उन जन्मों में होने वाले क्लिष्टा-क्लिष्टकर्मविपाक को समाधि में निपटा दो तब तुम चाहो तो इस शरीर को छोड़ देना और यदि न चाहो तो कायाकल्प से और हजारों वर्ष इस शरीर को रख सकोगे। इस पर वह महात्मा थोड़ी देर के लिए समाधि में बैठ गए और उस क्लिष्टाक्लिष्ट कर्मविपाक को सूक्ष्म और कारण में लेकर क्षणों में भुगतान कर दिया और अपने शरीर को कायाकल्प के द्वारा और लम्बे समय तक के लिए कायम रखने योग्य बना लिया।

यह था उनका योग-ध्यान के द्वारा लम्बे समय तक भोग में आने वाले उस क्लिष्टा-क्लिष्ट भोग को सोपक्रम कर्मविपाक से क्षणों में योगाग्नि के द्वारा भुगतान कर देना अन्यथा वह पूरा एक जन्म ले लेता।

इसके अतिरिक्त दूसरा कर्म निरुपक्रम कर्म है। सोपक्रम कर्म वह हुआ जिस प्रकार से गीले वस्त्र को कड़े हाथों से निचोड़ करके तीव्र धूप और तेज हवा में जल्दी से जल्दी सुखा लिया जाए। जैसे ऊपर लिखे उदाहरण में उस महात्मा ने पूरे जन्म तक भुगतान में आने वाले कर्मविपाक को क्षणों में निपटा दिया। दूसरा यही कर्म यदि निरुपक्रम के हिसाब से भुगतता है तो उसका रूपक यह होगा। जैसे वह भीगा हुआ वस्त्र किसी ठण्डे

स्थान में चारों तरफ से सिमटा हुआ दबा हुआ पड़ा रहे तो उसका गीलापन महीनों में भी निकल नहीं पावेगा। पड़ा हुआ वह वस्त्र कभी न कभी सूख तो जाएगा ही किंतु समय महीनों का लम्बा ले लेगा। इसी को निरुपक्रम कर्म कहते हैं। संसार में कितने ही ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं जो अपने इस प्रकार के घोरतम क्लिष्ट कर्मों का भुगतान पूरी-पूरी आयु भोगते रहते हैं। योग-दर्शन में दृष्टादृष्ट जन्म-वेदनीय कर्मों का वर्णन आता है। कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जो जन्म-जन्मान्तरों के किए हुए होते हैं और उनका फल मनुष्य जन्म लेकर के पूरी आयु में भोग पाता है। और कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं कि मनुष्य पूर्वार्जित क्लिष्ट कर्मों का फल भोगता हुआ पूर्वार्जित कर्मों की प्रेरणा को पाकर इस जन्म में भी घोरतम पाप कर्म कर बैठता है जिसका फल इस जन्म में और आगे होने वाले भावी जन्मों में भी भोग पाया करता है। हमने अपने बाल्यकाल में एक गांव में एक ऐसे व्यक्ति को देखा जो खूब खातापीता था—दण्ड बैठक करता था और उसमें इतना बल बढ़ गया कि बल की पहचान के लिए निरपराध प्राणी कुत्तों को मारा करता था। जिसका परिणाम यह निकला कि कुछ ही समय के बाद वह घोर बीमार हो गया और लगभग अपनी सारी आयु बीमार ही बना रहा। उसकी अपनी आयु में पिछले तीन वर्ष इतने कठोरतम् भुगतान के आए कि मलमूत्र त्याग के लिए उसके घर के पुत्र व पुत्रवधू ने उसकी खाट को काट दिया करते तब वह मलमूत्र त्याग कर पाता। कुत्तों को जिस प्रकार रोटी फेंकी जाती है उसी प्रकार से उसके बेटे-बहू रोटी उसकी ओर फेंक देते थे और वह उठाकर खा लेता था। यह था उसका निरुपक्रम कर्म जो बहुत लम्बे भुगतान के बाद घर वालों की तरफ से काफी गोदान आदि पुण्य करा देने पर उसका शरीर छूट पाया। और अन्त काल में वह कुत्तों की तरह भौंक-भौंक करके मृत्यु मुख में चला गया। यह उसका कर्म भुगतान निरुपक्रम कर्म कहलायेगा। व्यास-भाष्य में इन्हीं सोपक्रम कर्म एवं निरुपक्रम कर्मों को अग्नि के उदाहरण से भी समझाया है। यदि काष्ठ बहुत सूखा हो। लकड़ियां हल्की और पतली हों ऐसे ईंधन को अग्नि लगाई जाए तो वह अग्नि उस ईंधन को बहुत ही थोड़े समय में जलाकर भस्म कर देगी। यह उदाहरण सोपक्रम कर्म से सम्बन्धित है। इसी प्रकार से लकड़ियां गीली हों और बहुत भारी हों उनमें अग्नि लगाई जाए तो वह अग्नि ऐसे गीले ईंधन को कई महीनों में धीरे-धीरे जला पाएगी यही मनुष्य की आयु का भी हिसाब है। यदि जन्म ग्रहण करने वाला व्यक्ति सब

प्रकार से आचारहीन दुराचारी मन्द बुद्धि एवं अनीश्वरवादी नास्तिक है तो वह अपने प्रावतन किये हुये कर्मविपाक को नियतक्रम कर्म के हिसाब से लम्बे समय तक भोग पाएगा किन्तु यदि वह योगी है—ज्ञानाग्नि को पूर्णरूपेण अपने अन्दर प्रदीप्त कर लिया है तो वह बहुत जल्दी ही अपने कर्म जंजाल को खत्म कर डालेगा। यही उसका सोप-क्रम कर्म है। योगी जिस समय समाधि विधि से अपने भुज्यमान कर्म संस्कारों में संयम करेगा और उन संस्कारों का साक्षात्कार कर लेगा तो वह यह भली प्रकार से जान जायेगा कि मेरा यह भोगे जाने वाला कर्म इतने दिनों में—इतने समय में समाप्त हो जाएगा। किन्तु यह बात समाधिसिद्ध योगी को ही हो सकता है, सर्व-साधारण को नहीं। गुरु शरणागत एक ध्यानाभ्यासी व्यक्ति चाहे वह समाधि द्वार तक नहीं पहुंचा है और सम्प्रज्ञात समाधि की पहली आर दूसरी श्रेणी के आगे उठ रहा है वह भी इस ज्ञान का लाभ ले लेता है। उदाहरण के तौर पर अपने एक योगाभ्यासी बच्चे की अनुभूति को सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए यहां लिख देना हम उचित समझते हैं। उत्तर प्रदेश के जिला एटा के अन्तर्गत मुग-रिहा नाम का एक गांव है। वहां पर हमारे एक दीक्षित योगाभ्यासी बच्चे निवास करते थे—उनका नाम था ठाकुर फतेहसिंह। उन्होंने योग-ध्यान के बल से अपने मृत्यु समय को भली प्रकार जान लिया और सभी को बतला भी दिया कि अमुक दिन अमुक समय मैं यह शरीर छोड़ दूंगा। मेरा इस शरीर के कर्म विपाक से इतनी ही देर तक का सम्बन्ध है। यह बात महीनों पहले कह देने पर भी जिस समय ठा० फतेहसिंह का मृत्यु-काल निकट आया तो वह जिन्दगी भर के अपने घोरतम शत्रुओं से मिलने उनके घर गए और उनसे कहा कि भाई मेरा विरोध आज तक ही था अब कल प्रातःकाल तो मैं तुम सभी से बिछुड़ जाऊंगा। अतः मेरे प्रति अपने मन में कोई विरोधी भावना मत रखो। मेरे बच्चे तुम्हारे अपने ही बच्चे हैं।

किन्तु जिसकी मृत्यु निकट है उसको यह ध्वनि सुनाई नहीं देती इसके अतिरिक्त आंखें बन्द करने पर छोटे-छोटे प्रकाश के कण हर व्यक्ति को दिखलाई दिया करते हैं किन्तु काल जिसके सिर पर आ चुका है उसको यह ज्योतिकण नहीं दिखलाई देते। जो व्यक्ति कान बन्द करने पर अपने अन्त-र्नाद को न सुन पाए एवं आंखें बन्द करने पर इन ज्योति कणों को न देख पाएं तो समझ लेना चाहिए कि मृत्यु बिल्कुल नज-दीक है। इसी को आध्यात्मिक अरिष्ट कहते हैं। दूसरा अरिष्ट आधिभौतिक है। आधि-भौतिक अरिष्ट में अकस्मात सामने खड़े हुये यमराज को देखना या यम के दूतों को देखना अथवा अपने घर के गुजर चुके हैं उनको

अकस्मात सामने आए हुए देखना यह आधि-भौतिक अरिष्ट कहलाता है। इसके अति-रिक्त है आधिदैविक अरिष्ट। इसमें अकस्मात् स्वर्गीय दृश्य सामने आने लगें या अकस्मात् सिद्धों को योगियों सामने आने लगें या जो दृश्य हम रोज देखते हैं उसके बिल्कुल विपरीत दिखलाई पड़े—जैसे एक व्यक्ति साधारण गरीब है और वह स्वप्न में अनुभव कर रहा है कि वह बड़ा धनवान है, व उसने बड़े-बड़े नए वस्त्र धारण कर लिए हैं मुकुट पहन लिया है, शादी होने वाली है जो बड़ी आयु में असम्भव कार्य है उसको सम्भावित देखना, ऐसे तीन प्रकार के अरिष्ट मृत्यु काल में सामने आते हैं। 'यह बच्चे तुम्हारे अपने बच्चे हैं। अब इन सब की देख-रेख और सम्भाल तुम्हीं लोगों को करनी है।' यह कहके और अपने विरोधियों से भी गले मिलकर के ठाकुर फतेहसिंह अपने घर चले आए और घर आकर रात्रि भर भजन-संकीर्तन आदि में समय को निकाल दिया। प्रातःकाल होते ही श्रीप्रभुजी की आरती पूजन करके और उनके स्वरूप के आगे बैठकर और सभी कुटुम्बियों को यह बताकर कि भाई इस शरीर में मेरे को जो भोग भोगना था वह संस्कार काल समाप्त हो गया है और मैं अब जा रहा हूँ। यह कहकर सबके देखते-देखते आँखों में ऊर्ध्व दृष्टि होकर अपने शरीर को छोड़ दिया। यह था अपने सोपक्रम कर्म निरुपक्रम कर्मों के विभाग में संयम करके काल ज्ञान को समझ जाना। दूसरी बात भगवान् पतञ्जलिदेव ने लक्षणों के द्वारा काल ज्ञान को समझ जाना कहा है। यह प्रायः संसार में पुण्यात्मा लोगों को मुमकिन हो जाता है। हमारे शास्त्रों में अरिष्टों का वर्णन तीन प्रकार का आता है। पहला आध्या-त्मिक दूसरा आधिभौतिक और तीसरा आधिदैविक। आध्यात्मिक अरिष्ट के लक्षण भगवान व्यासदेव ने इस प्रकार लिखे हैं—

सर्व-साधारण हर व्यक्ति जब थोड़ी देर के लिए कानों में उँगली लगा कर बन्द करके बैठता है तो उसको नाद ध्वनि सुनाई देने लगती है किन्तु यह ध्वनि अकस्मात् व्यक्ति को सुनाई देती है। हर व्यक्ति को नहीं इसके अतिरिक्त आँखों से अकस्मात् दीखना बन्द हो जाना। आँखों के आस-पास गहरे-गहरे गड्ढे की झाइयाँ सी बन जाना। नाक के अग्रभाग का सहसा टेढ़ा हो जाना, जिह्वा का काला हो जाना व अनेक प्रकार के भ्रान्ति दर्शन होना-यह सब लक्षण भी बिल्कुल मौत आगमन की निशानी है। इस प्रकार से योगीजनों की कर्मों के विभाग में संयम करने से और सर्व-साधारणों को अरिष्टों के द्वारा मृत्यु ज्ञान हुआ करता है। यह सब एक प्रकार से मौत की सूचना है या मौत की सूचना के सही लक्षण हैं जिनको ऐसी अनुभूतियाँ हों—उनको यह समझ लेना चाहिये कि मौत सिर पर आ चुकी है और उससे सावधान हो जाना चाहिए। मनुष्य तप स्वाध्याय एवं योग ध्यान के द्वारा मृत्यु पर भी विजय पा सकता है। अतः हर व्यक्ति के लिए यह आदेश है कि "यावत् स्वस्थ-मिदम् देहम्-यावद् मृत्युश्च दूरतः, तावद् हि हितम् कुर्वीत-मरणान्ते कि करिष्यति"। अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है और मौत की घड़ियाँ दूर हैं—मनुष्य को तब तक ही अपना भला कर लेना चाहिये मौत हो जाने पर फिर कुछ भी नहीं हो सकेगा।

# इदं शरीरं कौन्तेय !

श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

जगदात्मा त्रिकालज्ञ योग-योगीश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कौन्तेय—(अर्जुन) को निमित्त बनाकर विश्व के उस मानव-समुदाय को जिसमें कुछ भी विचारशक्ति है और जिसमें अपना भला-बुरा समझने की थोड़ी सी भी समझ है, यह समझाने का प्रयास किया है कि यह मानव शरीर जिसे अच्छे कर्मों के संचय के फलस्वरूप तूने प्राप्त किया है उर्वरा शक्ति से सम्पन्न ऐसा खेत या क्षेत्र है जिसमें अगर तू चाहे तो अपने पुरुषार्थ का उपयोग करके उस अमृत फल की उपलब्धि सहज भाव से कर सकता है जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है:—

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो।

—अथर्व १०/८/४४

अर्थात्—इसका परिज्ञाता मृत्यु से नहीं डरा करता ऐसी होती है, इस शरीर रूपी खेत की उपज—जिसका सही ढङ्ग से फलप्रद उत्पादन करके शरीरी—आत्मा—कृतकृत्य हो जाया करता है। लेकिन यह कृतकृत्य बना देने वाली अवस्था भी उसे तब प्राप्त होती है जब अपने शरीर रूपी खेत की मर्यादा का, उसके आकार-प्रकार और रूप स्वरूप का, उसकी स्थिति और अवस्था का, उसमें बोये जाने वाले उत्तम और निकृष्ट फल देने वाले बीजों के भेद-प्रभेद का तथा उसमें सहज भाव से आ उगने वाले खर-पतवार अथवा घास-फूंस का जिन्हें शास्त्रीय भाषा में विकार कहकर पुकारा जाता है, काट-छांट कर देने की कला उसको आती हो। खेती बाड़ी की भाषा में इस काट-छांट करने की कला को "नराई" करना कहते हैं। यदि आपको यह "नराई" करने की कला नहीं आती है तो समझलीजिए कि आप अकुशल किसान हैं—फूहड़ खिलाड़ी हैं ऐसी दशा में यह खेत और इसके माध्यम से उत्पन्न होने वाली फसल का समुचित लाभ आप नहीं उठा सकते हैं। खेत और उसकी उत्पादन-सम्पदा से आप तभी लाभान्वित हो सकते हैं जब-जब आप अपने खेत की स्थिति उसकी उर्वराशक्ति और उसमें बोये जाने वाले बीजों की उत्तम और निम्न कोटि का ज्ञान आपको हो। भगवान् इसी प्रसङ्ग में बड़ी ही स्पष्टता से कहते हैं—

हे अर्जुन-अपने क्षेत्र और उसके गुण-दोष से परिचित हो जाना ही तो वास्तविक ज्ञान की संज्ञा में आता है। इसे विधिवत् जान लेना ज्ञान और न जान सकना ही अज्ञान कहा जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अपने तेरहवें अध्याय में जिसका नाम ही-क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग-रक्खा गया है भगवान वासुदेव ने बड़े विस्तार से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी का उपयोगी वर्णन किया है। अध्याय के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय
क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः
क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि
सर्व क्षेत्रेषु भारत ॥
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं
यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! यह शरीर (जिसमें शरीरी निवास करता है) क्षेत्र कहा जाता है और जो इसको जानता है उसे क्षेत्रज्ञ नाम से सम्बोधित किया जाता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। और हे भारत ! सब क्षेत्रों में निवास करने वाले मुझ ईश्वर को तू क्षेत्रज्ञ समझ। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही तत्व ज्ञान है।

भगवान् के इस कथन में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त भी निहित है। वे समझा रहे हैं कि जैसे व्यष्टि देह में आत्मा प्रकाशित है वैसे ही समिष्ट में यानी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परमात्मा प्रकाशित है। ब्रह्माण्ड रूपी क्षेत्र का अति कुशल क्षेत्रज्ञ परमात्मा है वैसे ही देह रूपी क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है जो अल्प बुद्धि और अल्प सामर्थ्य वाला है। इसीलिए भगवान उसकी अल्पता और न्यूनता को ध्यान में रखते हुये उसे सावधान करने की चेष्टा कर रहे हैं कि यदि इस अपने देह रूपी क्षेत्र का तू लाभ उठाना चाहता है तो भली प्रकार पहले इसके आकार-प्रकार-विकार और गुण दोष आदि को समझ लेने की चेष्टा कर। ऐसा कर लेने पर ही तू इसे 'साधनधाम मोक्ष कर द्वारा' साबित कर सकेगा नहीं तो यह देह रूपी खेत तेरे लिए नारकी पीड़ाओं का धाम ही बनकर रह जायेगा।

आयुर्वेद के ऋषियों ने भी प्रकारान्तर से इसी सत्य-तत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

धर्मार्थ काम मोक्षाणां
शरीरं साधनं यतः ।
सर्वं कार्येष्वतरमं
शरीरस्यहि रक्षणम् ॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो चार पुरुषार्थ कहे गये हैं इन सबका मुख्य साधन शरीर ही है इसलिये शरीर की रक्षा अवश्य करनी चाहिये।

'चरक संहिता' में भी 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यंमूलमुत्तमम्' कहकर शरीर को निरोग रखने पर विशेष बल दिया गया है।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी इसीलिये वहीं जिस देह में रहकर पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्पादन करता है उसके उचित रख-रखाव का यथामर्श क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का रूपक प्रस्तुत करके देने का प्रयास किया है। वे इसी सन्दर्भ में आगे कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च
यद्विकारि यतश्चयत् ।
सचयो यत्प्रभावश्च
तत्समासेन मे शृणु ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! वह देह रूपी क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है, तथा जिस कारण से जो हुआ है, वह तू संक्षेप में मुझसे सुन—

महाभूतान्यहंकारो
बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च
पञ्च चेन्द्रिय गोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं
संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन
सविकार मुदाहृतम् ॥

अर्थात्—पाँच महाभूत अहङ्कार, बुद्धि और मूल-प्रकृति, तथा दस इन्द्रियाँ एक मन और पांच इन्द्रियों के विषय-अर्थात्—शब्द-स्पर्श रूप रस और गन्ध एवं इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख स्थूल देह का संघात यानी पिण्ड चेतना और धृति—इस प्रकार विकारों के सहित-क्षेत्र का परिचय अति संक्षेप में कहा गया है।

जो साधक अपने क्षेत्र के इन उपरोक्त विकारों के स्वरूप और गुणधर्म को भली प्रकार समझकर सुयोग्य गुरुओं के चरणों में बैठकर उनके निर्देशन में अपने जीवन-व्यापार का संचालन करने का प्रयास करते हैं वे ही कुशल कृषक की भाँति फलवती खेती करने में समर्थ हो पाते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते वे अपने श्रम और साधना का समुचित लाभ नहीं उठा पाते। बाग-बगीचे का सौन्दर्य भी तभी बढ़ पाता है और तभी वह अधिक फल-फूल देने वाला बन पाता है जब कोई एक कुशल माली हाथ में कैंची अथवा कतरनी लेकर अनावश्यक और बेडौल गति से बढ़े हुए पौधों को काट-छांट करके उन्हें तरतीब देता रहता है। साथ ही उन्हें विकारी तत्त्वों से बचाकर रासायनिक खाद और पानी आदि देकर उन्हें जीवन्त बनाये रखने की चेष्टा करता रहता है।

देह रूपी क्षेत्र में जिन विकारी तत्त्वों का ऊपर वर्णन किया गया है—वे देह के रहते हुये निर्मूल नहीं किये जा सकते। देह के साथ ही क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को ये प्राप्त होते हैं तथा देहान्तर होने वाले दूसरा देह प्राप्त होने पर भी—सूक्ष्म शरीर का

आश्रय लेकर ये अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। बिना इनके अस्तित्व के आत्मा का कोई परिचय हो ही नहीं सकता। इसीलिए इन विकारी तत्वों को शास्त्रकारों ने आत्मा के परिचयात्मक लिंग कहकर पुकारा है। जैसाकि न्याय-दर्शन के एक सूत्र में महर्षि-गौतम ने स्पष्ट किया है:—

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-

ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्—

अर्थात्—इच्छा-द्वेष प्रयत्न सुख-दुःख ज्ञान—ये आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग हैं।

योगिराज भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने क्षेत्र-विकारों का कुछ और विस्तार किया है। उन्होंने आत्मा के इन ज्ञापक चिह्नों के अतिरिक्त स्थूल देह, महाभूतों, तन्मात्राओं मन सहित सभी ग्यारह इन्द्रियों और उनके विषयों, तथा धृति बुद्धि और अव्यक्त मूल प्रकृति आदि को विकारवान् तत्वों में और जोड़ दिया है। विकार का अर्थ होता है-बदल जाना-हेर-फेर या परिवर्तन हो जाना। यह सभी परिवर्तन धर्म वाले हैं। केवल आत्मा ही अपरिवर्तन धर्मी है। अगर अपरिवर्तन धर्मी क्षेत्रज्ञ इन विकारी स्वभाव वाले तत्वों पर प्रतिक्षण अपनी दृष्टि नहीं रखेगा तो यह सब देह-क्षेत्र को अथवा क्षेत्र में बोई गई उसकी कर्म खेती को ऐसा नष्ट कर डालेंगे कि उसे सिवाय पछताने के और कुछ हाथ न आ सकेगा।

इस रहस्य को और भी स्पष्ट रूप से यों समझलीजिए कि व्यष्टि या समष्टि रूप से सब कुछ सृष्टि में विकारमय है। प्राणी इस सृष्टि के विकार समूह में ही पैदा होता है, बढ़ता है, परिणाम को प्राप्त होता है क्षीण होता और नष्ट हो जाता है। परिवर्तन की इस वेला में ही उसे अपनी जीवन-यात्रा चलानी पड़ती है। इन्हीं हर-क्षण होने वाली परिवर्तन की घड़ियों में अपनी जीवन यात्रा में उसे इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, विद्या-अविद्या, धृति, बुद्धि, मन, अहङ्कार इन्द्रिय और इन्द्रिय गोचर तथा महाभूतों आदि से भी यथोचित रूप से उलझना पड़ता है। बिना इनसे उलझे हुए जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर पाना—अथवा जीवन की रहस्य मय जड़-चेतन ग्रन्थि को सुलझा पाना सम्भव ही नहीं हो पाता। इसीलिए योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में—इन विकारी तत्वों का नामोल्लेख करते हुए—विशेष रूप से इनके गुणधर्म और स्वभाव की चर्चा करते हुये कहा है कि संसारी जीवों को जिन्हें अभ्युदय और निःश्रेयस की चाहना है सदैव एक कुशल कृषक के समान यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी देह-क्षेत्र के ये विकारी तत्व कहीं अमर्यादित ढङ्ग से बढ़कर-परिवर्तन की सीमा का उल्लंघन करके उसकी—देह रूपी खेत या क्षेत्र में की जा रही फलवती खेती को ही तो नष्ट कर

देने के कारण तो नहीं बन रहे हैं। अगर ऐसा है तो इन्हें मर्यादित करने की चेष्टा करो। इन्हें निर्मूल कर देना तो शक्य नहीं हो सकता क्योंकि देह का अस्तित्व इनके बिना सम्भव नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें इन्हें सीमाबद्ध करके खेत की फसल को फल-वती बनाने में इनका उपयोग किया जा सकता है। वैसे इसका भी सफल उपाय भग-वान श्रीकृष्णानन्द ने इसी अध्याय में आगे श्लोक ७ से ११ तक इस प्रकार बताया है:—

अमानित्वमदम्भित्व
महिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं
स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्य-
मनहंकार एव च ।
जन्म मृत्यु जरा व्याधि
दुःख दोषानुदर्शनम् ॥
असक्ति रनभिष्वङ्गः
पुत्र दार गृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्व
मिष्टा निष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन
भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्त देश सेवित्व-
मरतिर्जन संसदि ॥
अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं
तत्व ज्ञानार्थ दर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त-
मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

(गीता १३/७-११

अर्थात्—ज्ञान रूपी तेजधार वाली कैंची ही ऐसी कैंची हो सकती है जिसे इच्छा से पकड़ कर तू इन विकारों तत्वों को सीमित और मर्यादित रखते हुये देह रूपी खेत से लाभदायक उपज लेने का प्रयत्न कर सकता है—विस्तार से भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर संसारीजनों को उपर्युक्त श्लोकों में बताया है कि:—

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भा-चरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से न सताना, क्षमाभाव, मनवाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरुओं की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता और मन इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह।

इस लोक और परलोक में सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव, और अहङ्कार का भी—अभाव जन्म-मृत्यु जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का पुनः पुनः चिन्तन।

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव ममता न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रखना।

प्रभु में अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय से प्रेम न करना तथा अध्यात्म में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना।

यह गुण ही अपने आचरण में धारण करने से ज्ञान रूपी ऐसी कैंची मनुष्य के हाथ में आ जाती है जो विकारी तत्वों के मर्यादित करके देह-क्षेत्र की फसल अथवा उत्पादन को लाभप्रद बनाने में उसे अधिक सहायक हो जाती है। देह-क्षेत्र के सभी विकारी तत्व साधक द्वारा उपरोक्त गुणों का आचरण में समावेश कर लेने पर अपनी मर्यादा की सीमा में बने रहते हैं। ऐसा हो जाने पर देह क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रपति अपने अभीष्ट फल को पा लेता है। जड़ चेतन की रहस्यमय दुरूह ग्रन्थि भी इस ज्ञान से जिसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूपक द्वारा समझाया है—सहज रूप से खुल जाती है। और यही वे गुण हैं, यही वह ज्ञान है जिसे आचरण में अपना लेने पर साधक योगारूढ़ होकर समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाया करता है तथा आगे इस 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्' जैसे भव चक्र में घूमना नहीं पड़ता।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी प्रकारान्तर से देह क्षेत्र की महत्ता को स्वीकारते हुये उसके समुचित उपयोग का परामर्श संसारीजनों को दिया है। वे कहते हैं:—

तुलसी काया खेत है,
मनसा भयो किसान।
पाप पुण्य दुइ बीज है,
बुवै सु लुनै निदान॥

अथवा:

कृषि निरावहिं
चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं,
मोह मद माना॥

अर्थात्—हे प्राणी काया रूपी खेत का तू स्वामी है, किसान है। पाप कर्म अथवा पुण्य कर्म रूपी—जैसे भी बीज तू इसमें बोयेगा वैसा ही उत्पादन अन्ततोगत्वा इससे प्राप्त कर सकेगा। अर्थात् पाप कर्मों के बीज डालेगा तो पाप की फसल प्राप्त करेगा और अगर पुण्य कर्मों के बीज बोयेगा तो बिलाशक पुण्य फलों से लदी हुई ऐसी फसल समेट सकेगा जिससे तेरा जीवन उस पूर्णता को प्राप्त कर लेगा जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

लेकिन इसके लिए भी मनुष्य को अपने खेत की निराई करनी होगी और काम मद-मोह आदि विकारी तत्वों को खोद कर फेंक देना होगा। पुण्य कर्मों को ही—योगियों की भाषा में शुक्ल कर्म कहकर पुकारा जाता है। शुक्ल कर्मों का निरन्तर सम्पादन साधक की प्रवृत्ति को सात्विकता और निष्कामता की ओर मोड़ देता है जिसके फलस्वरूप उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

# उद्बोधन

❀ महाकवि श्री शङ्कर

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की पचरङ्गी कर दूर,
एक रङ्ग तन, मन, वाणी में भर ले तू भरपूर ।
प्रेम पसार न भूल भलाई, वैर—विरोध बिसार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ।

( २ )

देख कुदृष्टि न पड़ने पावे पर-वनिता की ओर,
विवश किसी को नहीं सुनाना कोई वचन कठोर ।
अबला, अबलों को न सताना पाय बड़ा अधिकार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ।

( ३ )

आप न उलझें मतवालों के छल, पाखण्ड, प्रमाद,
नेक न जीवन काल बिताना, कर कोरे बकवाद ।
बाँटें सुविद ज्ञान बिन उनको जान अजान लबार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ।

( ४ )

हिंसक, मद्यप, आमिष-भोजी, कपटी, वञ्चक, चोर,
ज्वारी, पिशुन, चबोर, कृतघ्नी, जार, हठी, कुलबोर ।
असुर, आततायी, गुरु-द्रोही इन सब को धिक्कार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ।

( ५ )

जो सब छोड़ सदा फिरते हैं निर्भय देश-विदेश,
धर्म-सिद्ध श्रेयस्कर जिन से मिलते हैं उपदेश ।
ऐसे अतिथि महापुरुषों का कर सादर-सत्कार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ।

( ६ )

माता, पिता, सुकवि, गुरु, राजा कर सबका सम्मान,
रुग्ण, अनाथ, पतित, दीनों को दे जल, भोजन, दान ।
सुभट, सदाचारि, शिल्पकारों को पूज सुयश विस्तार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ।

❀ ❀

# जीवित रहने की कला—अध्यात्म

**● श्री कविराज रत्नाकर शास्त्री**

जीवन कला है या विज्ञान? यह प्रश्न समझना बहुत आवश्यक है लाखों जी रहे है, उन्हें पता नहीं है क्या कर रहे हैं। लाखों लोग मर रहे हैं, उन्हें भी पता नहीं क्यों मर रहे हैं? यदि इन प्रश्नों का उत्तर समझ में आ जाय तो अनन्त जीवन प्राप्त हो जाय। परन्तु इसका उत्तर ढूंढने की ओर 'कश्चिद् यतति सिद्धये' के अनुसार हजारों में एकाध का ध्यान जाता है। जिसने उत्तर ढूंढ लिया वह अमर हो गया।

जीवन का अर्थ ही 'क्रिया' है। शरीर, इन्द्रियां, मन और आत्मा जब तक सक्रिय हैं, जीवन चलता रहता है। क्रिया का अन्त हुआ कि जीवन का अन्त हो गया। इसलिये यह समझिये, यदि आप क्रिया कर रहे हैं, तो जी रहे हैं। क्रिया समाप्त हो गई तो मर गये। इसलिये दिन-रात क्रियाशील रहिये। सारे वेद और शास्त्र यही बताने के लिये लिखे गये हैं। क्रिया क्या हो? कैसे हो?

आप देखते होंगे जो आदमी काम में लगे रहते हैं, अधिक जीते हैं। निकम्मे जल्दी मर जाते हैं। इसी भाव से यह विचार करना पड़ता है कि जीवन को सक्रिय कैसे रखा जाय सक्रिय रखने के दो उपाय खोजे गये है। पहला वैज्ञानिक उपाय है। दूसरा कलात्मक उपाय है। जरा ध्यान से देखिये-

(१) भूख लगे तब खाना खाइये। तब कई प्रश्न उठेंगे—क्या खायें, क्या न खायें? इसका उत्तर विज्ञान से निकलेगा। मीठा खायें या खट्टा? यह भी विज्ञान बतायेगा।

(२) परन्तु दूसरा प्रश्न उठेगा-किस तरह खायें, किस तरह न खायें? अकेले-अकेले खायें या मिलजुल के? गुस्सा होकर खायें या प्रसन्न होकर? इसका उत्तर कला देगी।

विज्ञान बहिरङ्ग योजना है, यह शरीर के हित की योजना बता के चुप हो जाता है। कला अन्तरङ्ग योजना है। यह मन और आत्मा के हित की योजना बताती है। ताकि क्रिया में सौन्दर्य हो, सुख हो, और संयम हो। यही भगवद्दर्शन है। ढांचा विज्ञान से बनता है। कला भगवान से आती है।

लाखों लोग समाज-सेवी है। परन्तु महात्मा गांधी, ऋषि दयानन्द, महात्मा ईसा, भगवान गौतम बुद्ध जैसे इने-गिने पुरुषों की ओर ही सब की निगाह क्यों जाती है? क्योंकि वे वैज्ञानिक जिन्दगी ही नहीं, कलात्मक जिन्दगी भी जिये। कला उस सौन्दर्य को जन्म देती है जो सबके मन को वश में करें। शरीर विज्ञान की रचना है। परन्तु

उसमें वस्त्र और आभूषण पहिनाकर भी सुन्दरता लाती है वह कला है। दोनों आवश्यक है विज्ञान प्रकृति की रचना है और कला आत्मा की। इसीलिये दोनों बातें देखनी पड़ेंगी—प्राकृतिक नियम से काम कीजिये किन्तु सुन्दर कीजिये। प्रकृति में इतने न रम जाइये कि आत्माको भूल जायँ।

दिन और रात में कुल चौबीस घण्टे है। कर्म काण्ड इन चौबीसों घण्टों का होता है। वह वैज्ञानिक एवं कलात्मक होना चाहिये। चौबीस घण्टे रोज ही आते है इसलिये यह सारे जीवन का कार्यक्रम होना चाहिए। आचार-शास्त्र के हजारों ग्रन्थ इसी कार्यक्रम के बताने में बन गये हैं। वह ऐसा बताता है जिसमें सुख हो, सुन्दरता हो, सौमनस्य और सहयोग हो अन्यथा संसार में जिन्दा रहना मुश्किल हो जायगा। मनुष्य समाज छोड़कर अकेला नहीं रह सकता इसलिये समाज कैसा हो? उसके साथ कैसे रहें? इन प्रश्नों का भी समाधान भी जीवन के कार्यक्रम में रहना जरूरी है। अकेले कैसे रहें? इसका उत्तर 'ब्रह्मयज्ञ' है। समाज के साथ कैसे रहें? इसका 'देव-यज्ञ है।' दोनों जरूरी हैं।

## ❁ अमृत-कण ❁

❁ संसार क्षणभंगुर है तथा इसमें आनन्द का एक भी कण नहीं है। मैं न तो मृत्यु की कामना करता हूं और न मुझे जीवन का ही लोभ है, मैं राज्य, धन, सुख और आकांक्षा के लिए व्यग्र नहीं हूं, क्योंकि मैंने इन सभी की जड़ अहङ्कार का परित्याग कर दिया है।

❁ कल्प के बाद कल्प व्यतीत हो जाते हैं, किन्तु 'काल' कहा जाने वाला प्रवाह अप्रभावित और यथावत् बना रहता है। इस प्रकार काल न तो उत्थान है, न आन्दोलन और न एक स्थिर स्थिति ही।

❁ हे साधु! जिसे अज्ञानी लोग सुखोपभोग का घर समझते हैं वह वस्तुतः यन्त्रणाओं का आवास है, जीवन चलायमान है, यौवन क्षणिक है, शैशव बुद्धिहीनता के अन्धकार से आच्छन्न है तथा मृत्यु भयङ्कर है।

❁ यदि कोई व्यक्ति मित्र के रूप में मेरे पास आता है, तो मैं उसे कैसे अस्वीकार सकता हूं? यह मेरे जीवन के सिद्धान्त के विरुद्ध है। ज्योंही व्यक्ति शरणागत होता त्योंही उसके सारे दोषों को अनदेखा कर देना चाहिये।

—भगवान् राम

# साधक की साध

श्री ओमप्रकाश मिश्रा

हे प्रभो ! तुम मुझे धारणा, ध्यान और समाधि की त्रिपुटी को सम्हाल कर रखने की शक्ति प्रदान करो।

हे प्रभो ! तुम मुझे यम और नियमों के परिपालन की शक्ति और उनसे कभी भी किसी दशा में विचलित न होने की दृढ़ता बल प्रदान करो।

हे प्रभो ! तुम मुझे वैराग्य की तीव्रतम वह भावना प्रदान करो जिससे राग और आसक्ति कभी भी मेरे उर-आंगन में झांक कर देखने का साहस न कर सकें।

हे प्रभो ! तुम मेरे चित्त को मैत्री, करुणा और मुदिता के भावों से सदा ओत-प्रोत रखने की कृपा करते रहो।

हे प्रभो ! मेरे हृदय तुम्हारा वह मन्यु सदा आवेशित करता रहे—जो असत्य, अन्याय, अत्याचार और अधर्म के दलन के प्रतिकार की क्षमता रखता हो।

हे प्रभो ! यज्ञ, दान, तप और वे कर्म जिनसे बुरे विचार और बुरे कर्म दग्ध बीज हो जाते हैं—सदा सतत् मेरे द्वारा सम्पन्न होते रहें।

हे प्रभो ! मुझे वह सन्तोषधन प्रदान करने का अनुग्रह करें जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

हे प्रभो ! तुम मुझे आत्मनिरीक्षण की वह शक्ति प्रदान करो जिससे मैं अपने सूक्ष्म से सूक्ष्मतर दोषों को भी देखकर उन्हें निकाल बाहर कर सकूं।

# पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अर्थात्—जिसके हाथ में शान्तिरूपी तलवार है, दुर्जन उसका क्या बिगाड़ सकता है। बिना घास की जगह पर जिस प्रकार अग्नि पड़ने से अग्नि कुछ भी बिगाड़ न करने से अपने आप शान्त हो जाती है उसी प्रकार शान्ति रखने वाले का दुर्जन—वैरी उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। उसकी रोषाग्नि स्वयं ही निष्फल हो जाया करती है।

× × × ×

विद्या मित्रं प्रवासे च भार्या मित्रं गृहेषु च ।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥

अर्थात्—विदेश में विद्या मित्र है, घर में पत्नी मित्र है, और औषध रोगी का मित्र है, तथा मरने पर धर्म ही मनुष्य का मित्र होता है।

× × × ×

रूप यौवन सम्पन्ना विशाल कुल सम्भवाः ।
विद्या हीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥

अर्थात्—रूप यौवन से सम्पन्न एवं बड़े कुल में उत्पन्न होने पर भी विद्वानों की सभा में विद्या हीन मनुष्य उसी प्रकार शोभा नहीं पाता, जिस प्रकार बिना गन्ध के टेसू का फूल।

× × × ×

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभा मध्ये हंस मध्ये बको यथा ॥

अर्थात्—वे माता-पिता वैरी के तुल्य हैं जिन्होंने अपने बालक को पढ़ाया नहीं क्योंकि वह बिना पढ़ा हुआ बालक विद्वानों की सभा में उसी प्रकार शोभा नहीं पाता जैसे हंसों के बीच में बगुला।

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापिशील न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्य लोके भुवि भार भूता,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

अर्थात्—जिनमें न विद्या है, न तप है, न दान है और न शील गुण तथा धर्म ही है वे मनुष्य लोक में पृथ्वी का भार मात्र ही हैं तथा मनुष्य रूप में इन्हें विचरते हुए पशु ही कहा जा सकता है।

× × × ×

लालनाद् बहवो दोषास्ताड़नाद् बहवो गुणाः ।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताड़येन्न तु लालयेत् ॥

अर्थात्—अतिशय दुलार से बहुत दोष उत्पन्न होते हैं तथा अतिशय ताड़ना से बहुत से गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए पुत्र तथा शिष्य को अतिशय दुलार नहीं किन्तु ताड़ना ही देनी चाहिए ताकि उसका उत्थान होता रहे।

× × × ×

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

अर्थात्—जो प्रतिदिन अपने से बड़ों को प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, कीर्ति और बल—ये चारों बढ़ते हैं।

× × × ×

अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ।
मनुष्याः मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥

अर्थात्—अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने और इष्ट वस्तु के वियोग से थोड़ी बुद्धि वाले मनुष्य मानसिक दुःखों से जलने लगते हैं।

× × × ×

ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥

अर्थात्—दूसरों से ईर्ष्या करने वाले, घृणा करने वाले, असंतोषी, क्रोधी, सभी बातों में शङ्का करने वाले और दूसरे के धन से जीविका निर्वाह करने वाले ये छहों सदा दुःखी रहते हैं।

# मन को सद्गुरु के अर्पण करदो

ले० श्री विष्णुप्रसाद व्यास

मन रूपी शत्रु को गुरु-प्रेम और गुरु-वचन के बंधन में ऐसी दृढ़ता से बांध दो कि वह निकलने न पावे। और यह काम आज ही करो, क्योंकि कल का क्या विश्वास।

उपर्लिखित वचन में बहुत भेद भरा हुआ है। इस वचन पर आचरण करने से जीवन सुधरता, संवरता और सफल होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थों का सार इस वचन में समाया हुआ है। यदि कोई पूछे कि इस वचन पर आचरण करने से क्या-क्या लाभ होंगे, तो पूर्ण विवरण तो प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि लेखनी में इतनी शक्ति कहाँ कि सत्पुरुषों के रहस्यपूर्ण वचनों की पूर्ण रूपेण व्याख्या कर सकें, किन्तु फिर भी थोड़े से लाभ वर्णन करने का यत्न किया जाता है।

१—प्राकृतिक नियमानुसार जैसा जिसका (हमारा-तुम्हारा भी) मन होता है, वैसा ही उसका संसार बन जाता है। कहावत है कि बहता हुआ गीदड़ कहता जा रहा था कि मैं डूबा तो जग में प्रलय हुआ। चूँकि वह स्वयं डूब रहा था, इसलिये उसकी दृष्टि में संसार ही डूबा जा रहा था। इसी प्रकार जिसका मन दुःखी है, उसके लिये सम्पूर्ण संसार ही दुःख मय बन जाता है। इसके विपरीत जिसका मन सुखी हो गया, उसके लिये संसार सुखमय हो गया। और यह भी निश्चित है कि जब तक यह मन विषय-वासनाओं के रसों का स्वाद लेता रहेगा, तब तक चंचल बना रहेगा और तभी तक दुःखी और अशान्त भी बना रहेगा, वह परम शान्ति की प्राप्ति नहीं कर सकेगा।

मन पंछी तब लगि उड़ै,
विषय-वासना माहिं।
प्रेम बाज की झपट में,
जब लगि आयो नाहिं॥
—कबीर जी

मन रूप पक्षी जब सद्गुरु के पवित्र वचन और प्रेम के बंधन में आ जायेगा, तब वह विषय-विकारों की दिशा में उड़ान नहीं भर सकेगा, विवश होकर चंचल वृत्ति त्याग कर स्थिर होने का यत्न करेगा। ज्यों-ज्यों एकाग्रता से बैठने का अभ्यास दृढ़ होता जायेगा, त्यों-त्यों दुःखों से सुखी होता चला जायेगा। जब मन में सुख शान्ति का निवास हो जायेगा तो उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण संसार ही सुख रूप बन जायेगा।

२—जिसका मन गुरु-आज्ञा के बंधन में बंध जाता है, उस मन का आहार परिवर्तित हो जाता है, जैसाकि कथन है:—

पहिले यह मन काग था,
करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया,
मोती चुगि-चुगि खात॥
—कबीर जी

जब तक यह मन गुरु-प्रेम के बन्धन में बंधा हुआ नहीं था, तब तक काक-वृत्ति रखता था, जहाँ-तहाँ से अवगुणों की गन्दगी बटोरता था और उसी को अपने अन्दर एकत्र करता था। ऐसा विष पूर्ण आहार खाकर दुःखी और अशान्त हो रहा था। किन्तु जब से सत्पुरुषों की शुभ संगति के प्रताप से इस मन की वृत्ति में परिवर्तन हुआ है, तब से यह सद्गुरु प्रेम के रङ्ग में रङ्ग गया है, काक-वृत्ति को त्यागकर हंस-वृत्ति का बन गया है, अवगुणग्राही वृत्ति को त्यागकर गुणग्राही बन गया है। अब यह विषय-विकारों की गन्दगी त्यागकर सत्पुरुषों के वचन रूपी मोती चुगता है। अब यह नाम भक्ति रूपी अमृत का पान करता है। अब जिधर-किधर से गुणों का संग्रह करके गुणों की खान बन गया है। इसने मृत्यु के मुख से निकलकर अमर जीवन प्राप्त कर लिया है।

३—स्वाभाविक ही जन्म-जन्म का मैल तो मन पर पहले ही चढ़ा होता है, कुसंगत के कारण विषय-विकारों के मलिन जल में दिन-रात पड़े रहने से इस पर पापों की कालिमा और भी चढ़ जाती है, जिससे यह पूर्णरूपेण काला हो जाता है।

मन पर पापों की कालिमा चढ़ जाने से यह अपनी भलाई नहीं सोच सकता था। यह जब भी और जो कुछ भी सोचता अपनी बुराई ही सोचता था। अब जो गुरु-प्रेम के बंधन में बंध गया तो सन्त सत्पुरुष इसे प्रतिदिन सत्संग सरोवर के अमृत जल में स्नान कराकर मलिन से निर्मल बना देंगे।

क्या इस लाभ का कोई अन्त पा सकता है? खण्डों ब्रह्माण्डों का स्वामी केवल मन के निर्मल होने से ही जिसके पीछे-पीछे घूमता फिरे उस मनुष्य की कितनी उच्च पदवी हुई? इससे बढ़कर उच्च पदवी भी कोई हो सकती है क्या? जिस सेवक ने अपना मन सद्गुरु को समर्पित कर दिया, उसके सिर का सम्पूर्ण भार ही उतर गया। उसे किसी प्रकार की चिन्ता ही नहीं रहती, क्योंकि सेवकों का कार्य मालिक स्वयं करने लगता है।

जिस मनुष्य के सब कार्य सिद्ध हो जायें, संसार में उससे बढ़कर भी क्या कोई ज्ञानी, विद्वान एवं योग्य हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि संसार में सबसे अधिक विद्वान, गुणी, निपुण अथवा धनवान वही मनुष्य है, जिसने अपने मन को गुरु-प्रेम के बन्धन में बांध दिया है।

४—मन को मालिक के चरणों में अर्पण

कर देने से शत्रुओं में शत्रुता भाव नहीं रहता, अपितु वही सब शत्रु मित्र बन जाते हैं। आप अनुमान लगाओ कि यह कोई कम लाभ है।

शास्त्रों में ऐसे सहस्रों प्रमाण विद्यमान हैं। प्रायः जितने भी उच्च कोटि के प्रसिद्ध महात्मा हो गुजरे हैं, उन सबका संसार में विरोध हुआ और उन्हें कई प्रकार के कष्ट भी दिये गये। चूँकि उन महात्माओं ने अपना मन मालिक के प्रेम के बन्धन में बाँध रखा था, अतएव संसार को अन्त में उनके समक्ष झुकना पड़ा, लोग शत्रुता त्यागकर उनके भक्त बन गये और उन्हीं लोगों के द्वारा ही उनकी प्रसिद्धि फैली। उदाहरण के लिए आप परम सन्त श्री कबीर साहिब के जीवन चरित्र का अध्ययन करें, तो ज्ञात होगा कि उनके साथ उनके सम्बन्धियों, राजकर्मचारियों और धर्मान्ध व्यक्तियों ने कितनी शत्रुता की, परन्तु अन्त में सबने उनके चरणों में शीश झुकाकर क्षमा माँगी और उनकी महिमा फैलाने का वे कारण बन गये। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जावे तो उनकी जितनी महिमा निन्दकों के कारण फैली, उतनी सेवकों के द्वारा नहीं फैली, जैसाकि निम्नलिखित प्रसङ्ग से स्पष्ट है।

काशी के पण्डितों ने एक बार शास्त्रार्थ के लिये सभा बुलाई। विचार तो उनका यह था कि शास्त्रार्थ में श्री कबीर साहिब की हार होगी और इस प्रकार उनका अपमान होगा, परन्तु मालिक ने श्री कबीर साहिब को विजय कराई, जिससे उनकी कीर्ति में और भी चार-चाँद लग गये और उनकी महिमा दूर-दूर तक फैल गई। विचार करो कि सहस्रों व्यक्तियों को निमन्त्रण भेजकर बुलवाने, उनके आदर सत्कार का प्रबन्ध कराने, इतना बड़ा मण्डप सजाने आदि का सब काम तो उन लोगों ने ही किया जो श्री कबीर साहिब से वैर-भाव रखते थे, परन्तु चूँकि श्री कबीर साहिब ने अपना मन अपने मालिक के अधीन कर रखा था और सदैव मालिक के ध्यान में ही लीन रहते थे, तो उनके मालिक ने भी ऐसी रचना रचाई कि सहस्रों व्यक्तियों की सभा में उन्हीं लोगों को। श्री कबीर साहिब जी के समक्ष झुकना पड़ा। वह लोग देखकर अन्य अन्य भी शत्रुता त्यागकर श्री कबीर जी के सब मित्र बन गये।

इतिहास साक्षी है कि जब चित्तौड़ में राणा साहब ने सन्त रविदास जी को बुलवाया और बहुत बड़े भण्डारे का प्रबन्ध किया तो भण्डारे के समय ब्राह्मणों ने राणा जी से स्पष्ट कह दिया कि हम शूद्र के साथ बैठकर भोजन नहीं करेंगे। उन लोगों के कहने पर सन्त रविदास जी को अलग कमरे में बैठाकर भोजन परोस दिया। किन्तु ईश्वर ने ऐसी रचना रचाई कि प्रत्येक ब्राह्मण के

दायें-बायें सन्त रविदास जी ही विराजमान होकर भोजन करते हुये दृष्टि-गोचर हुये। यह कौतुक देखकर सब ब्राह्मण उनके चरणों में गिर कर क्षमा-याचना करने लगे। यह देखकर राणा साहिब अत्यन्त प्रभावित हुये और उन्होंने भी सन्त रविदास जी के चरणों में शीश झुकाया। उन्हें शीश झुकाते देखकर प्रजा पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा और सहस्रों व्यक्ति उनके सेवक बन गये।

ऐसे अवसर पर ही सत्पुरुषों की वाणी कानों में गूंजती है:—

किसी काम के थे नहीं,
कोई न छूता छांव।
सतगुरु की किरपा भई,
पूजन लागे पांव॥

पहिले लोग जिनकी छाया से भी घृणा करते थे, उन्होंने जब अपना मन सद्गुरुदेवजी के चरणों में समर्पित कर दिया और सद्गुरु प्रेम के बन्धन में स्वयं को बांध दिया, तो फिर उन्हीं के चरणों को लोग पूजने लगे। क्या यह रात-दिन का अन्तर न हो गया?

कोई देश में मैच जीतता है अथवा विदेश से मैच जीत कर आता है तो उसका कितना सम्मान किया जाता है, परन्तु यहां तो सम्पूर्ण जगत को जीत लेने के मान-सम्मान के विषय में सत्पुरुष कहते हैं कि जिसने अपने मन को अपने इष्टदेव सन्त सद्गुरुदेव के चरण कमलों से जोड़कर चंचल से निश्चल बना लिया, वही पुरुषों में अग्रणी अथवा श्रेष्ठ है।

ऊपर दिये गये प्रमाणों से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि पूर्वोदित वचन "कि मन को गुरु के प्रेम के बंधन में बांध दो" पर आचरण करने से केवल लौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक जीवन भी संवरता है। जितने भी सुख-सम्पत्ति के पदार्थ हैं जैसे धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान, शत्रुओं पर विजय आदि-आदि सो उस मनुष्य को, जिसने अपना मन अपने इष्टदेव सन्त सद्गुरुदेव के अर्पण कर दिया होता है, मिल ही जाते हैं। प्रभु के धाम में भी उसका उज्ज्वल मुख होता है।

अब हम मन में विचार करें कि जब इतना महान लाभ है अपने मन को सन्त सद्गुरु के चरण कमलों में जोड़ देने से, तो फिर हम इतने बड़े लाभ से क्यों वंचित रहें? हमारा भी परम धर्म है कि मन को हर ओर से मोड़कर और सब स्थानों से हटाकर उसे अपने इष्टदेव सद्गुरु के चरण कमलों में जोड़ने का पूर्ण प्रयत्न करें।

---

—जो कुछ दूसरे के अधीन है, सब दुःखरूप है और जो कुछ अपने अधीन है, सब सुखरूप है। संक्षेप में सुख-दुःख का यही लक्षण जानना चाहिए।

# मानसिक तनाव से मुक्ति

श्री शिवानन्द

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में सुख चाहता है तथा सुख प्राप्ति की दिशा में दिन रात दिन प्रयत्न करता है। किन्तु कभी-कभी मानसिक तनाव मनुष्य को सुख से दूर हटा देता है। क्या हम इस तनाव से मुक्ति पा सकते हैं? अवश्य क्या हम खोये हुये आत्म-विश्वास को भी पुनः पा सकते हैं? हां, निश्चय ही।

आप जीवन के अस्तित्व और उसके सुख को तो स्वीकार करते ही हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष अनुभव आपको होता है। पुनर्जन्म आदि के कुछ सिद्धान्त तो विवादास्पद हो सकते हैं, ये सर्वमान्य नहीं हैं, किन्तु वर्तमान को सुखमय बनाने की मनुष्य की लालसा एवं क्षमता तो निर्विवाद है। सर्वप्रथम चिन्तन और अवधारणा की इकाइयों के रूप में परस्पर जुड़ी हुई लगभग दस-ग्यारह अरब कोशिकाओं से युक्त अत्यन्त संवेदनशील मानव-मस्तिष्क को व्यर्थ बोझ और तनाव से मुक्त रखने के उपाय करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक मस्तिष्क-कोशिका (न्यूरोन) एक अत्यन्त सूक्ष्म इकाई होती है। जो जटिलताओं के कारण विशालतम संगणक (कम्प्यूटर) की अपेक्षा अनन्त गुणा विलक्षण होती है। कोई भी दो न्यूरोन समान नहीं होते हैं तथा प्रत्येक न्यूरोन में लगभग दो करोड़ आर० एन० ए० अणु होते हैं जिनमें से प्रत्येक जीव रसायन के चमत्कार से एक लाख प्रकार के प्रोटीन बना सकता है। चिन्ता और भय मानव के मस्तिष्क को बोझ डालकर सतत् क्षीण बनाते रहते हैं। आज की सभ्यता इस दिशा में मानव के लिये एक अभिशाप बन गई है। यदि आप निश्चय करलें कि आप को चिन्ता एवं भय से मुक्त होकर सुखी रहना है तो आपका जीवन सुखमय हो जायगा। आप विश्वास करें कि प्रकृति के सब से बड़े चमत्कार मानव-मस्तिष्क में समस्याओं को चुनौती देने और संकटों से जूझने की अद्भुत क्षमता है किन्तु आपको संकल्प करना आवश्यक है, अतः आप आज ही और अभी संकल्प करलें कि आपको सुखी होना है और आप निश्चित रूप से सुखी हो सकते हैं। बस आपके विचारों एवं सोचने के तरीकों में परिवर्तन लाने तथा जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण को बदल डालने की आवश्यकता है। धैर्य से काम लें और इस संकल्प को पूरा करके छोड़ें।

कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फलै, केतिक सींचो नीर॥

धैर्य रखो। धैर्य की महिमा अनन्त है।

धैर्य के साथ विश्वास एवं आशा को भी दृढ़ रखना सीखें। धैर्य धारण करना कठिन होता है किन्तु उसके फल मीठे होते हैं।

जीवन का सार और सुख का रहस्य दो आँसुओं में निहित है—दूसरों के गम के आँसू पोंछकर प्रसन्नता का एक आँसू अर्जित करना तथा दूसरा आँसू एकान्त में भावविभोर होकर प्रभु के प्रति कृतज्ञता पूर्वक बहाना कि उसने आपको सेवा करने का अवसर तथा उसके लिये क्षमता प्रदान की। बस इतना ही समस्त धर्मों का सन्देश है।

आज 'प्रोग्रेसिव' के नाम पर ईश्वर तत्व को नकारना एक फैशन हो गया है। ज्यों-ज्यों भौतिक प्रगति हो रही है, मानव की मानवता विलुप्त होती जा रही है। कलह और अशांति व्यापक रोग की भाँति फैलते जा रहे हैं। अतः आध्यात्मिकता की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। अशांति का उपाय आध्यात्मिकता है।

ईश्वर हमारे लिये एक अनन्त एवं अथाह शक्ति-स्रोत है। यदि आपका आत्म-विश्वास विलुप्त हो चुका है, आप प्रभु भक्ति के द्वारा उसे पुनः प्राप्तकर सकते हैं। भाव पूर्ण प्रार्थना करना एक विचित्र संबल है। हम मन्त्र बल को भी विस्मृत कर चुके हैं। मन्त्रजप से अद्भुत शक्तियाँ जाग जाती हैं। दो चार दिन एक मन्त्र का जप करते ही हमें इसका अनुभव हो सकता है। मन्त्र जप के सहारे सारी भीतरी कुण्ठायें परिसमाप्त हो सकती हैं तथा नूतन शक्तियों का प्रादुर्भाव हो सकता है। खेद, हम ईश्वरीय शक्तियों को भुला बैठे हैं। जरा मन के द्वार खोलें। शक्ति का एक असीम, अथाह भण्डार हमारे भीतर सुरक्षित है। हमें उससे सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता है।

× × × ×

हमारे विचारों आशाओं निराशाओं, भय, घृणा, क्रोध आदि मनोवेगों का प्रभाव हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग पर पड़ रहा है, हमारे स्वास्थ्य और मनोदशा पर पड़ा रहा है, शरीर के एक-एक सैल पर पड़ रहा है, हृदय और मस्तिष्क पर पड़ रहा है, रक्त पर पड़ रहा है, स्नायु तन्त्र (नर्वस सिस्टम) पर पड़ रहा है। हमारे विचारों का प्रभाव हमारे व्यक्तित्व में झलक रहा है। जितनी बार भी हम चिन्ता में घबरा उठते हैं या उत्तेजित होकर व्यर्थ ही घृणा पूर्ण क्रोध में भड़क उठते हैं, उतनी बार हम मानो अपने ही शरीर से, मस्तिष्क से तथा प्रत्येक सैल से ही लड़ रहे हैं। चिन्ता और भय हमारे स्नायु तन्त्र में प्रकम्पन्न तथा रक्त में एक विषैला तत्व उत्पन्न कर देते हैं जो हमें जर्जर कर देते हैं। मानसिक तनाव से हृद्रोग (कोलाइटिस), उच्चरक्तचाप, सिरदर्द, कमर दर्द, हृदयाघात आदि महा रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मानसिक तनाव कम करने का उपाय आत्म-विश्वास है। आत्म विश्वास जगाकर आगे बढ़ें। सब लोग आत्म-

विश्वास से ही आगे बढ़ते हैं; अतः किसी का खोया हुआ आत्म-विश्वास लौटा देना उसकी सबसे बड़ी सेवा एवं सहायता है। हताश होना अथवा हताश करना अक्षम्य अपराध है। जहाँ आत्म-विश्वास है तथा प्रभु पर विश्वास है, वहाँ चिन्ता और भय न रह सकेंगे। भक्ति भाव में ओत-प्रोत होकर कबीर जी कहते हैं :—

उस समरथ को दास हौं।
कदे न होय अकाज।
पतिव्रता नांगी रहे।
वाही पुरुष को लाज॥

ईश्वर भक्त का विश्वास है कि उसका अकाज नहीं हो सकता है क्योंकि ईश्वर सर्व समर्थ है किन्तु यदि कुछ हानि भी हो जाय तो वह ईश्वर का ही प्रसाद है। विश्वास के प्रकाश में चिन्ता का अन्धकार लुप्त हो जाता है।

धीरे-धीरे मस्ती को स्वभाव का अंग बनालें, मस्ती की आदत डाल लें। मस्त स्वभाव के बिना आप छोटी-छोटी बातों पर बड़ी चिन्ता करने लगेंगे, चिड़-चिड़े होकर लड़ने लगेंगे, दुःखी हो जायेंगे और रक्तचाप आदि के शिकार हो जायेंगे।

ऐसे ही निरन्तर गंभीरता, गरिमा का भारी बोझ सिर पर उठाये हुये हम खिल-खिलाकर हँसना भूल गये तथा बात-बात पर चिढ़ने लगे। चिढ़ाने वाला व्यक्ति दुष्ट और चिढ़ने वाला मूर्ख होता है। छोड़ो, छोड़ो चिढ़ना और चिढ़ाना। अपना लो हँसना और हँसाना।

सदा रोते रहने का स्वभाव मनुष्य को दयनीय बना देता है। ऐसे व्यक्ति के साथ कौन बैठना पसन्द करेगा जो दुःख की गाथा ही सुनाता रहता है तथा रोता ही रहता है। यदि कभी रोना भी पड़े तो प्रभु के समक्ष अकेले ही रो लेना चाहिये। कभी-कभी रोना ठीक तो सकता है परन्तु सदा रोते रहना तो जीवन को बोझ बना देता है।

अपमान का भय, रोग का भय, मृत्यु का भय, अनेक प्रकार के भय हमें घेरे रहते हैं तथा सारा जीवन यों ही रोते, डरते बीत जाता है। भय बार-बार मन को विचलित कर देता है। भय भूखे भेड़िया की भाँति मनुष्य के स्वास्थ्य और सुख को खा जाता है। भय के कारण अपशकुन, भूत-प्रेत के भय में पड़कर कभी किसी तिथि को कभी किसी संख्या को कभी किसी रंग को, कभी किसी पशु को अशुभ कह देते हैं तथा बच्चों के कोमल मन पर भी कुप्रभाव डाल देते हैं। संसार में अनेक ज्योतिषी और हस्त-रेखा विशारद कहलाने वाले चतुर व्यक्ति दुःखी-जन के दुःख का अनुचित लाभ उठाकर, उन्हें भयभीत कर उनका शोषण कर रहे हैं। जिन्हें अपने भविष्य का ज्ञान नहीं है, वे दूसरों के भविष्य का कथन करते हैं। मनुष्य

का भविष्य हाथ की रेखाओं और ग्रहों द्वारा कदापि बाँधा नहीं जा सकता है। मनुष्य की इच्छा शक्ति और पुरुषार्थ मनुष्य का भविष्य बनाती है न कि उसके हाथ की रेखा और ग्रह। समझदार व्यक्ति ग्रह के चक्र से छूटकर ब्रहस्पति परमात्मा से नाता जोड़ता है। परमात्मा सर्व समर्थ है। अज्ञान (ग्रहों और रेखाओं) के कुचक्र से छूटकर कर्म की ओर बढ़ना विवेक है। बृहस्पति स्मृति में लिखा है कि शास्त्र की बातों को भी बुद्धि रहित होकर मनाने से धर्म हानि होती है।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न,
कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्ति हीन विचारेतु,
धर्महानिः प्रजायते ॥

अर्थात्—शास्त्र का आश्रय लेकर कोई निर्णय नहीं लेना चाहिये। बिना युक्ति सोचे हुये विचार करने पर तो धर्म हानि हो जाती है। इसी प्रकार एक अन्य उक्ति है :—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा,
शास्त्रं तस्य करोतिकिम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य,
दर्पणः किं करिष्यति ॥

अर्थात्—जिसके पास प्रज्ञा (विवेक विचार) नहीं है, शास्त्र उसका क्या उपकार कर सकता है? नेत्रों से विहीन व्यक्ति का दर्पण भी क्या उपकार करेगा? नेत्रों को बन्द करके मनुष्य प्रकाशित लैम्पपोस्ट से भी टकरा जाता है, दिन में भी भटक जाता है। सच्चा बुद्धिजीवी कभी प्रज्ञा-नेत्र को मूँदकर नहीं बैठता है।

रोग होने पर रोग की चिन्ता करना उसे द्विगुणित कर देता है। रोग का उपाय अवश्य करना चाहिये किन्तु रोग का चिन्तन, उसकी बार-बार चर्चा करना और रोग से भयभीत होकर जीवन खपा देना मूर्खता ही है। रोग के "मूड" में रहने से रोग बढ़ता ही है। होम्योपैथी, एलोपैथी आदि से बढ़कर लाभकारी देरपैथी (रोग की परवाह न करना) है। यदि आप चिकित्सक नहीं हैं तो व्यर्थ ही रोगों की सविस्तार जानकारी करने का प्रयत्न न करें, क्योंकि रोगों की जानकारी करते हुये आप अपने भीतर भी रोगों की मिथ्या कल्पना कर सकते हैं। ऐसे चिकित्सक को दूर रखें जो रोग को भयंकर कहकर उसे असाध्य बना देता है। विश्वास रखने से भयंकर रोग भी ठीक हो जाते हैं। अतः ऋणात्मक चिन्तन करना सर्वथा त्याज्य है। अपने स्वस्थ हो जाने में स्वस्थ रहने में अनन्त और अखण्ड विश्वास रखें।

अपच और अनिद्रा चिन्ता के कारण उत्पन्न होते हैं तथा चिन्ता से वे उग्र रूप धारण कर लेते हैं। अनिद्रा में जप करने के लिये बैठ जाये बैठकर केवल तटस्थ चिन्तन करने लगना भी मन को शान्त कर देता है।

आखिर मन के विचार तो आपके ही हैं। उनसे आप कब तक डरेंगे? मन के विचारों को वे कितने भी डरावने क्यों न हों, शान्त भाव से तटस्थ होकर बार-बार देखने से उसकी भीषणता का शमन हो जाता है। मन के साथ मेल करने का यही एक ढंग है। यदि मन के साथ मैत्री हो गई, तो आपने रोग और कष्ट पर आधी विजय पाली।

घृणा, क्रोध, भय, चिन्ता, ईर्ष्या-द्वेष, क्लेश आदि मनोविकार रक्त संचार पर भी कुप्रभाव डाल देते हैं। तथा मानसिक विकलता उत्पन्न कर देते हैं। यदि आपको एकबार कोई रोग हुआ था और अब पुनः उसका प्रभाव हो गया है तो आप यह कल्पना न करने लगें कि रोग पुनः उग्र हो जायगा परन्तु ऐसी कल्पना करने में प्रवृत्त न होवें। विश्वास करें कि शीघ्र ही आप उस पर विजय पालेंगे। सैकड़ों लोगों को रोग से मुक्ति होती है, आपको भी होगी। मन में यह विश्वास दृढ़ कर लें कि मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।

चिन्ता और भय के वेग से रसों का स्राव अवरुद्ध हो जाता है, रक्त संचार बाधित हो जाता है और पाचन शिथिल हो जाता है। आप जैसा विचार करेंगे, वैसे ही बन जायेंगे। स्वस्थ विचार कीजिये और स्वस्थ बन जाइये। अपनी शक्तियों पर तथा प्रभु कृपा पर विश्वास कीजिये।

चिन्ता के स्थान पर चिन्तन करें, योजना बनायें और कर्म करें तथा परिस्थितियों का सामना करें। चिन्ता एक काल्पनिक रोग है जिसे हमने स्वयं ही चिपटाया है। आखिर पलायन कब तक करेंगे? पलायन के स्थान पर साहसपूर्वक संघर्ष तथा कर्म करना सीखें। उत्साह आपका श्रेष्ठ मित्र है, आत्म-विश्वास आपका सहोदर भ्राता है। इनका तिरस्कार न करें।

उलझन और समस्या बाहर संसार में नहीं है, मन में है। बाहर तो केवल परिस्थितियाँ हैं। उलझनों में फँसकर दम को घोट लेने के बजाय उन्हें चुनौती देकर उनसे छुटकारा पा लेना मोक्ष है, मुक्ति है। निश्चिन्त, प्रफुल्ल मन स्वर्ग है तथा उलझा हुआ मन नरक है जिसके जिम्मेदार हम स्वयं हैं।

जब तक संकट न आये उसकी चिन्ता करना निराधार है और जब संकट आ जाय तब भय न करें। उत्साह से उसका सामना करें। भय संकट को उग्र बना देता है पहले जघन्य भय को जीतें। भय से सन्देह उत्पन्न होता है और वह आत्म-विश्वास एवं साहस को तोड़कर शक्ति को चाट जाता है, शक्ति के स्रोत को सुखा देता है।

भय हमारी बुद्धि की हार है, हमारे आत्म - विश्वास की हार है। मनुष्य सृष्टि का शृंगार है परन्तु भयभीत मनुष्य

तो सृष्टि का निकृष्टतम वस्तु है। भय एक मिथ्या, काल्पनिक भ्रम है। आत्म विश्वास में अनन्त शक्ति है। वह आपको ऊँचे ही ऊँचे शिखर पर ले जा सकती है। आत्म-विश्वास को जगाना शुरू करें और कुछ दिनों में ही आपमें परिवर्तन आ जायेगा।

भाग्यशाली है वो लोग जिन्हें चिन्ता करने को भी फुरसत नहीं मिलती है, और जो अपने जीवन को भी अल्प मानते हैं तथा अभागे हैं वे लोग जो कार्य के अभाव में पर-निन्दा जैसी विध्वंसात्मक बातों में तथा व्यसनों में समय बिताते है या काल्पनिक दुःख में ही पड़े रहते है। व्यस्त रहने वाले ही जीवन में कुछ कर पाते हैं तथा व्यस्त रहने वाले ही अधिक काम के लिये भी समय निकाल लेते हैं जबकि निठल्ले लोगों को आलस्य से ही फुरसत नहीं मिलती।

काम करने की लगन के साथ विश्राम भी आवश्यक है। फौज का एक जमादार कभी छुट्टी ही नहीं लेता था। अफसर के इसका इलाज पूछने पर उसने उत्तर दिया—हुजूर, मुझे फिक्र है कि मेरी गैरहाजिरी में परेड कौन करायेगा? अफसर ने हँसकर कहा—जब तुम रिटायर होंगे तब कौन करायेगा? काम में रुचि लेने का अर्थ यह नहीं है कि जीवन के अन्य पक्षों की अवहेलना की जाय।

निर्धनता के कारण उत्साह हीन भावना हमें सता सकती है। उसका उपाय पुरुषार्थ है। आलस्य के कारण धन न कमाने पर, भूखे-नंगे रहकर दुर्दशा में पड़े रहना और दीनता को संयम अथवा सादगी कहना भयंकर भूल है। नास्ति सिद्धिरकर्मणः। बिना कर्म किये हुये, बिना पुरुषार्थ किये हुये, कोई सिद्धि नहीं होती है। भोग वृत्ति तो बुरी है किन्तु सबको मानसिक परिपक्वता के लिये आयु के अनुसार तथा सामाजिक स्तर के अनुरूप आवश्यक पदार्थों का उपलब्ध होना भी अभीष्ट होता है अन्यथा हीनता की भावना आ घेरती है। हाँ, धीरे-धीरे भोगों में से गुजर कर भोग से त्याग की ओर बढ़ना तथा भोगों के आकर्षण से छूटना भी व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक होता है।

स्वाभिमान के नाम पर मिथ्या अहंभाव जगाना मानसिक क्लेश का कारण बन जाता है। झूठी शान सदा दुःख देती है। समझदार व्यक्ति अकड़ के कारण अपना काम कभी नहीं बिगाड़ता है। झूठी शेखी में आकर न जाने कितने लोग दुर्गति को प्राप्त होते है। झूठी शेखी में आकर गर्म चाय एकदम पीने पर प्राण गँवाने जैसी अनेक घटनायें होती रहती है। झूठी शेखी ने अगणित घर बरबाद कर दिये। "सकल सोक दायक अभिमाना"। उचित मात्रा में धन कमाकर दान के द्वारा विरक्त होना तथा सादगी के आदर्श की ओर बढ़ना महानता है किन्तु आलस्य के कारण स्वयं भूखे मरना तथा दूसरों को गाली देना आत्म प्रवंचना है। धन कमाना बुरा नहीं है, धन का दुरुपयोग करना बुरा है, शोषण बुरा है। धन का मोह बुरा है, धन का अहंकार बुरा है।

—क्रमशः

# निर्विकल्प बनने के तीन महामंत्र

● श्री अगरचन्द नाहटा

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को वाक्-शक्ति और मन की शक्ति विशेष रूप में प्राप्त है। काया की शक्ति तो मनुष्य की अपेक्षा कई पशुओं में अधिक दिखाई देती है, पर वाक्-शक्ति और मन की शक्ति का विकास जैसा मानव कर सका है, वैसा अन्य कोई भी प्राणी नहीं कर सका। देवी-देवताओं को बाहरी सुख और सुविधाएं तो अधिक प्राप्त हैं और बहुत से असम्भव कार्य वे सहज संभव कर लेते हैं, पर वाक्-शक्ति और मन-शक्ति का वे भी इतना विकास नहीं कर पाये, जितना मनुष्य कर सका है। मनीषियों ने 'शब्द', 'ध्वनि' आदि प्रकृति-प्रदत्त अनेक शक्तियों को अद्भुत रूप में विकसित किया, उनके महत्व को पहचाना और बहुत से अद्भुत कार्य कर दिखाये। शब्द को ब्रह्म कहा गया है अर्थात् उसमें अपरिमेय शक्ति है। उसका सही उपयोग किया जाए तो भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक उन्नति भी बड़े अच्छे रूप में की जा सकती है। ध्वनि और नाद की महान शक्ति को भी मानव ने पहचाना। शब्दों से मंत्र-शक्ति विकसित की जिससे बहुत से असंभव कार्य सहज संभव बन सकते हैं। खेद है कि हमने अपने पूर्वजों की विकसित मंत्र-शक्ति को भुला दिया। बहुत-सी परंपराएं लुप्त हो गयीं। गुरुओं से जो आम्नाएं मिलते रहते थे, उनसे हमारा सम्बन्ध कट गया। मंत्र-शक्ति में जो गहरी श्रद्धा होनी चाहिये और साधना के लिए दृढ़ मनोबल या संकल्प-शक्ति होनी चाहिये उसमें बहुत कमी आ गयी। इसलिए मंत्रों के द्वारा जो सिद्धियाँ व विशिष्ट कार्य हमारे पूर्वज कर सके थे, वे हम कर नहीं पा रहे हैं। इतना ही नहीं, अविश्वास की गहरी छाया हमारे ऊपर छायी जा रही है। आवश्यकता है कि वह मंत्र-शक्ति पुनः प्रतिष्ठित की जाये। बहुत से अशिक्षित ग्रामीण व्यक्ति आज भी उस मंत्र-शक्ति से काफी लाभ उठा रहे हैं। अतएव पूर्ण विश्वास होने पर दूसरे भी अधिक लाभ उठा हो सकते हैं।

शब्द और ध्वनियों का मन पर काफी असर होता है। भजन और संगीत के द्वारा भी मन अपने आप शान्त और एकाग्र हो जाता है। यौगिक कठिन साधना से मन की एकाग्रता की जो सिद्धि हम प्राप्त नहीं कर सकते, भजन की मस्ती में वह एकाग्रता सहज ही प्राप्त हो जाती है। अतः संगीत के द्वारा भी जो लाभ प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त करने का हमें प्रयत्न करना चाहिये। भक्ति में भी बहुत बड़ी शक्ति है। उस शक्ति के विकसित होने पर मनुष्य को मुक्ति भी

प्राप्त हो सकती है।

कहा जाता है कि मन बड़ा चंचल है। वह हर समय नये-नये विकल्पों में उलझा रहता है। उससे सभी मनुष्य परेशान रहते हैं और यही चाहते हैं कि वह शान्त हो, एकाग्र हो और निर्विकल्प बन जावे। इसी के लिए अनेक प्रकार की ध्यान साधनाएं प्रचलित हुईं एवं की जा रही हैं पर उनमें से बहुत-सी तो क्षणिक लाभ ही पहुंचाती हैं। ध्यान-साधना जब तक की जाती है, तब तक तो बड़ी शान्ति मिलती है, पर उसके बाद फिर चिर-अभ्यसित मन का भटकाव चालू हो जाता है।

साधारणतया हम भूत और भविष्य में अधिक उलझे रहते हैं। भूत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाएं हमारे मन को आन्दोलित करती रहती हैं वर्तमान काल तो बहुत सूक्ष्म होता है-हम उसमें जीना नहीं जानते, पर वास्तव में वर्तमान का ही अधिक ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि जो बीत गया, वह तो वापस आने से रहा और भविष्य तो वर्तमान पर निर्भर है। वर्तमान का सही उपयोग किया जावे, तो भविष्य अच्छा ही होगा। वर्तमान में जो कुछ करते हैं, उसे सोच-समझ कर अच्छे रूप में ही करने का प्रयत्न करें, क्योंकि उसी का परिणाम भविष्य में होगा। हम वर्तमान की उपेक्षा करते हैं। जीने की कला नहीं जानते और उसे अच्छा बनाने का प्रयत्न नहीं करते। फिर भविष्य अच्छा कैसे होगा? वर्तमान की उपेक्षा करते हैं और वह अतीत बनता जाता है, फिर अतीत की स्मृतियां हमारे मन को अधिकाधिक आन्दोलित करती रहती हैं। मैंने अपने विचार-मंथन में इसी लिए उपरोक्त शब्द और विचार अनुभव-मंत्र का अच्छा प्रभाव देखा है। अतः पाठकों की जानकारी के लिए उसे यहां प्रकाशित कर रहा हूं।

पहला मंत्र है—'आता है सो आने दो।' हम जो कुछ भी नया आता है, उसे अच्छे और बुरे रूप में मानने लगते हैं। यदि वह हमारे मन के अनुकूल होता है तो अच्छा है और प्रतिकूल है तो बुरा है। अनुकूल को पकड़कर रखना चाहते हैं और प्रतिकूल को हटाना चाहते हैं। इसी में हमारी शक्ति का बहुत बड़ा अपव्यय होता है। अतः 'ज्ञाता दृष्टा भाव' से जो भी आता है, उसमें इष्टानिष्ट की कल्पना नहीं करें- जो भी जैसा भी आता है, उसमें समभाव रखें। दूसरा मंत्र है—'जाता है सो जाने दो'। आने और जाने में अनेक बार हमारा वश नहीं चलता। फिर हम व्यर्थ की माथापच्ची क्यों करें? तीसरा मंत्र है—'होता है सो होने दो'। जो भी हो रहा है, उसी में प्रसन्न रहें। शान्ति और समभाव बनाये रखें तो निर्विकल्पता हमारे लिए सहज हो सकेगी। होगा वही जो केवली ज्ञानी ने देखा है। हम उसमें अन्यथा नहीं कर सकते। अतः हम संकल्प-विकल्प में नहीं उलझें। तटस्थता, ज्ञाता-द्रष्टा एवं समभाव बनाये रहें।

# आत्मा

**श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य**

धर्म की पहली सीढ़ी यह है कि स्थूल शरीर में अन्तर्हित आत्मा के अस्तित्व को समझ लिया जाय। स्थूल शरीर ही सम्पूर्ण वास्तविकता नहीं है। उसके अन्दर एक अदृश्य किन्तु सदा क्रियाशील गृह-स्वामी-देही विद्यमान है। वह शरीर का स्वामी है। उसके वास्तविक अस्तित्व का साक्षात्कार करने पर ही हम सच्चे रूप में जीवन यापन कर सकते हैं। इस आत्मा को मस्तिष्क के भावात्मक कार्यों से मिलाना नहीं चाहिये। यह केवल विचार, इन्द्रिय ज्ञान, भावना, इच्छा शक्ति और विवेक नहीं है, ये सब भौतिक शरीर के कार्य हैं। आत्मा इन से विलग और इन सब के पृष्ठ पर है। उसका स्थान शरीर का कोई अङ्ग-विशेष नहीं है। वह समस्त शरीर और इन्द्रियों में व्याप्त है। उस पर 'विस्तार' के नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी व्याप्ति वैसी ही है जैसे कि, भौतिक वैज्ञानिकों के कथनानुसार, आकाश समस्त स्थान और पदार्थों में समाया हुआ है। आत्मा मनुष्य के ही नहीं, वरन् प्रत्येक प्राणी और वनस्पति, प्रत्येक जीवधारी के होता है। शरीर केवल कर्म क्षेत्र अथवा 'क्षेत्र' है। उसमें आत्मा निवास करता है। वह 'क्षेत्री' अथवा 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। शरीर के मर जाने पर गाड़ या जला दिये जाने पर अथवा वन्य पशु-पक्षियों द्वारा खा डाले जाने पर आत्मा की मृत्यु नहीं होती। मृत्यु पर शोक करना मूर्खता है, क्योंकि आत्मा अमर है। मृत्यु शरीर का निपात करती है, ठीक वैसे ही जैसे कि—

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

यह आत्मा न तो कभी पैदा होता है, न मरता है। होता हुआ, भविष्य में कभी न होने वाला भी नहीं है। अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन, यह देह के मारे जाने पर मारा नहीं जाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़े उतार कर नये पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण शरीर त्याग कर नया धारण कर लेता है।

---

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

हे अर्जुन! आत्मा इस पृथ्वी के समस्त प्राणियों में व्याप्त है उसे तू अविनाशी जान। उस अविनाशी का नाश कोई नहीं कर सकता।

—गीता

# सर्व समस्याओं का समाधान योग

**❀ श्री डा० विजयसिंह**

अपने देश की एकता तभी से खंडित होनी शुरू हुयी होगी जबसे लोग योग-मार्ग से हटकर मनोमुखी धारणाओं से जीवन-यापन में उन्मुख हुये होंगे। नहीं तो कर्म-योगी जनक, विक्रमादित्य, भोज, तथा निवृत्ति-योगी भर्तृहरि, गोपीचन्द तथा अनेक निष्काम योगी राजा-महाराजाओं, सन्तों योगियों का यह देश हजार वर्षों तक गुलामी की जंजीरों में बंधा न रहता। तब भी यह योग का ही बचा-खुचा प्रभाव था कि मुगलों द्वारा सैकड़ों वर्षों तक अंग्रेजों का शासन होने के बावजूद भी हमारी भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत भाषा नष्ट नहीं हो पायी। प्रबुद्ध अंग्रेज, अमेरिकन, जर्मन विद्वानों ने आश्चर्य प्रकट किया है कि जिस देश की विरासत वेद, उपनिषद, गीता, महाभारत जैसे अमूल्य विचारों के ग्रन्थ हों वह देश क्योंकर गुलाम हुआ? निश्चित ही हम जबसे अपने पूर्वजों के बताये आत्मानुसंधान रूपी साधन को त्यागा होगा तभी से पतन का प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेजों के शासन के समय में भी सन्त, योगी भारत में थे परन्तु कर्मों की हीनतावश हम उनसे लाभ पूर्ण रूप से नहीं पा सके। फिर भी उन्हीं के पुण्य प्रयास से हम आज स्वतन्त्र हैं और विश्व में भारत के उस पूर्व प्राचीन ज्ञान योग का विस्तार दिनों दिन होता जा रहा है। सुख, समृद्धि, शान्ति का मूल मन्त्र योगानुभूति में ही निहित है। समग्र मानव जब इस योग विद्या को पुनः अपने जीवन में स्थान देगा तब ही विश्व शान्ति समग्रता से परिपूर्ण होगी।

यह योग कैसे प्राप्त हो सकता है? यह प्रश्न सर्व-साधारण के मन में उठता ही है। उत्तर सुलभ एवं एक अर्थ में सहज है। जैसे हर विद्या व हुनर की जानकारी हमें यथार्थ ज्ञाता से प्राप्त होती है उसी प्रकार योग विद्या का ज्ञान भी वो योगी जो आत्मतत्त्वानुभूति को प्राप्त हैं करवा सकते हैं। अन्य जिन्हें आत्म-ज्ञान नहीं है वे बुद्धि-कौशल से ग्रन्थ तो रच सकते हैं परन्तु सद् जिज्ञासु की जिज्ञासा को शान्त नहीं कर सकते। योगाचार्य योगिराज ही इस परम विद्या का दान सद्शिष्यों में किया करते हैं। शिष्य का तात्पर्य जिज्ञासु, विनम्र, कर्मशील, उत्साही से है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं योगोपलब्धि हेतु कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं
ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं
यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण
द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

अर्थात्—आत्मतत्व की जिज्ञासा वाले को चाहिये कि तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महापुरुषों का सङ्ग निष्कपट भाव से विनम्रता तथा सेवाभाव से ग्रहण करे। ऐसा करने से अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है तथा उनकी कृपा से अन्तर जगत् का ज्ञान होना शुरू हो जाता है। परिणामस्वरूप सर्वभूतों में वह मुझे ही देखता है। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में, अर्जुन ने ऐसे स्थिति-प्रज्ञ महापुरुषों के बारे में जानना चाहा तो जगद्गुरु श्रीकृष्णदेव ने जो लक्षण बताये हैं, वे यह हैं:—

प्रजहाति यदा कामा-
न्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः
सुखेषु विगत स्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

अर्थात्—जिसके मन की सम्पूर्ण वासनायें शान्त हो गई हैं वे स्वयं में सम्पूर्णता और संतुष्टि का अनुभव करते हुये स्थिर बुद्धि हुआ करते हैं। दुःख का पहाड़ भी ऐसे आत्मज्ञानी को विचलित नहीं करता और न आनन्द का समुद्र ही उसमें तनिक चञ्चलता उत्पन्न करने में सक्षम हो पाता है।

यह तो अन्तर दृष्टा द्वारा की गयी, स्थित-प्रज्ञ की पहचान है। संसारीजन स्थितप्रज्ञ को पहचान सकें, ऐसा कोई पैमाना ही उनके पास नहीं है; मात्र इस बात के कि करुणावश ऐसे महापुरुष स्वयं को बता दें—गोसाईं जी के शब्दों में—

जानहिं तिहि जेहि देहि जनाई ।
जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥

आधुनिक समय यंत्र युग है। हर पदार्थ का अपना प्रभाव क्षेत्र हुआ करता है। मनुष्य की चेतना उससे प्रभावित रहती है। इसलिये आज मानवोचित व्यवहार का ह्रास तथा संशय का विकास होता जा रहा है। संशय विनाश की जननी है जबकि श्रद्धा विश्वास विकास की जननी है। दृढ़ लगन से कोई भी व्यक्ति योग की खोज में लग जाय तो उसे अधिक देर नहीं लगेगी, योग स्वयं उसके अन्तःकरण में विशाल परिवर्तन ला देगा। सिद्ध सद्गुरु की कृपा ऐसों को भी अपनाती है जो प्रथमतया संशयी-तर्कशील रहा करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सिद्ध-संग ही परिवर्तन करने में सक्षम हुआ करता है। प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के लिये एक रोचक, उद्बोधक

घटना-विवरण को यहां बताना समीचीन प्रतीत हो रहा है।

इस सदी के पूर्वार्द्ध में, इग्लैण्ड निवासी डा० पालब्रन्टन, पेशेवर पत्रकार था जिसने द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका को अंतर्मन से भोगा था, निराशमना भारत में सुख-शान्ति की खोज में आया था। इसने सम्पूर्ण भारत की कठिन यात्रा की, पर्वत-जंगल, गाँव-शहर में योगियों की खोज की। उसको तमाम जादू, टोना, तन्त्र-मन्त्र के करिश्मे देखने को मिले परन्तु उसे इन सब चमत्कारों में शान्ति का स्पर्श भी नहीं दिखलाई पड़ा। उसने अनेक अद्भुत हठयोग की क्रियाओं का प्रभाव भी देखा। सच्चे संत और साधुओं के दर्शन और योगेश्वरों को भी परखा परन्तु उसके हृदय को परिपूर्ण शान्ति देने वाला उनमें से कोई भी नहीं था। अतः वह यात्रा करते-करते सिद्धों की प्रेरणा एवं अनुकम्पा से योगी महर्षि रमण की शरण में गया। यहां आकर उसे योगोपलब्धि हुई। कैसे हुआ यह सब इसकी चर्चा भी मनोहारी है। अतः संक्षेप में इसका वर्णन भी सुहृदय पाठक पढ़ें।

जब वह महर्षि के पास पहुँचा तो उसने अनुभव किया कि अन्य आश्रमों की तरह (भारत में उन दिनों अंग्रेजों का राज्य था) उसे मान आवभगत वहां नहीं मिला। अपितु उस समय महर्षि एक ऊँचे आसन पर अवस्थित लोक जगत से बेखबर खुली आँखें, निश्चल काय बैठे हुये थे। कुछ अन्य शान्त बैठे लोगों के बीच पालब्रन्टन भी आकर बैठ गया। भेंट की सामग्री की ओर वहां बैठे किसी भी व्यक्ति का ध्यान नहीं गया। सभी नेत्र बन्द किये बैठे हुये थे। मिनट घण्टों में बदलते गये सभी निश्चल बैठे रहे। उसने उस वातावरण में एक अनोखा आकर्षण अनुभव किया। वह था, प्रखर अव्यक्त शक्ति का प्रवाह जो किसी भी आगन्तुक को स्वयमेव उसके अन्तरतल की ओर प्रेरित कर देता था। उसे लगभग दो घण्टे के मौन अंतराल में यह प्रतीति दृढ़तर होती गयी कि उसके अन्तरंग के भीतर ही भीतर प्रशान्तिमय, दुर्निवार परिवर्तन हो रहा है। रेल की यात्रा में, उसने बड़ी सावधानी पूर्वक प्रश्नों की तालिका महर्षि से पूछने के लिये बनाई थी। परन्तु उनके इस मौन सान्निध्य से उसे उन प्रश्नों की सार्थकता में कोई सार तत्व नहीं दिखलाई पड़ा। मन में उन प्रश्नों का आग्रह समाप्त हो गया। उसे निर्भ्रान्त बोध हो रहा था कि शान्ति का गम्भीर प्रवाह उसके निकट बह रहा है तथा उसके अन्तस्तल के अन्तरतमपट तक महान शान्ति पैठती जा रही है।

यही है वह पहचान! सिद्ध पुरुषों का सान्निध्य ही निष्कपट, जिज्ञासु हृदयों को अपना परिचय दिया करता है, इस परमशान्ति के माध्यम से। आत्म परिचय की

शुरुआत सद्गुरु की कृपा दृष्टि पड़ते ही अचानक आभ्यान्तर में जाग उठती है। गूंगे को प्राप्त स्वाद की तरह है यह, तथा अवर्णनीय।

कुछ दिनों बाद पालब्रण्टन को महर्षि से बातचीत करने का एक मौका मिला। इसमें विलंब का कारण भीड़ या कोई आश्रमके नियम नहीं थे अपितु महर्षि का कम बोलने का स्वभाव ही था। सच्चे योगी गुरुदेव मौन रूप से ही शक्तिपात तथा शिष्य के संशयों का छेदन करते रहते हैं। इधर जब पालब्रण्टन को महर्षि से बात करने की तीव्रतर इच्छा जागी तभी अन्तर्यामी महर्षि ने एक ग्रीष्म की दोपहरी में उसे वैसा मौका स्वयमेव दे दिया। उस दिन जब वह उनके पास गया तो वे मुस्करा उठे तथा बोले—हमें खेद है कि तुम्हारा आतिथ्य हम यहाँ ठीक से नहीं कर सके। आश्रम में रूखा-सूखा भोजन मिलता है। पालब्रण्टन ने कहा—भगवन्! इस आश्रम की खोज करके मैं जिस मूल खोज के लिये आया हूँ वही मेरे लिये प्रधान कार्य है।

महर्षि ने प्रशान्त एवं स्थिरभाव से उसकी बातें सुनीं। कुछ देर बाद उन्होंने कहा—यह भी बड़ा सुन्दर उद्देश्य है। पालब्रण्टन अपने मनोभावों को एक-एक कर खोलने लगा। उसने कहा—भगवन्! मैंने पश्चिम के सारे दर्शनों को पढ़ा है। विज्ञान का भी थोड़ा बहुत अध्ययन किया है। उसके सुखों एवं लालसाओं के जाल में फँसा हूँ। मैंने पश्चिम के विद्वानों से पूछकर देखा और अब पूर्व की ओर आशा लगाकर आया हूँ। मुझे अंतरज्योति का आलोक चाहिए। मैंने कई मत और सिद्धान्त सुने हैं। चारों ओर बुद्धि कुशलता से धार्मिक विश्वासों के प्रमाण ढेर के ढेर पड़े हैं। मेरा मन उन सबसे घबड़ा उठा है। जिसका प्रत्यक्ष अनुभूति प्रमाण न हो उसके बारे में मुझे शङ्का होने लगी है। सही अर्थों में मैं अपने को धार्मिक भी नहीं पाता हूँ। मेरा अब किसी भी धर्म पर विश्वास नहीं है। भौतिक अनुभूति के परे क्या किसी चीज की सत्ता है? और अगर हो भी तो उसे मैं कैसे जान सकता हूँ?

महर्षि ने अपने मुखारविन्द से कोई जवाब नहीं दिया। वे तटस्थ गम्भीर भाव से अपने में डूबे रहे। पालब्रण्टन कहता गया—पश्चिम के विद्वान्, हमारे वैज्ञानिक अपनी बुद्धिमत्ता के लिये बड़े मशहूर हैं और लोग उनका बड़ा आदर-सत्कार करते हैं। फिर उन्होंने मान लिया है कि जीवन के तले जो रहस्य है, उस पर वे कुछ भी रोशनी डालने में असमर्थ हैं। ऐसी मान्यता है कि भारत में कुछ ऐसे लोग हैं, जो उस सत्य को जानते हैं, उसे बता सकते हैं। क्या यह बात ठीक है? ज्ञान के इस आलोक का अनुभव दान क्या आप मुझ पर करेंगे?

महर्षि मृदुता के साथ बोले—तुम "मैं" कहते हो, मैं जानना चाहता हूँ, यह "मैं" कौन सी चीज है ? पालब्रण्टन ने अपने को निर्देशित करते हुये अपना नाम बता दिया। महर्षि सहास्य बोले—क्या तुम उसको जानते भी हो ? पालब्रण्टन—क्यों नहीं, सारी उम्र मैंने उसे जाना है। महर्षि—लेकिन यह तो तुम्हारा शरीर है। तुम यथार्थतः कौन हो ? पहले उसको जान लो, फिर तुमको जीवन का रहस्य तथा सत्य का ज्ञान हो जायेगा। करना यही एक काम होगा। अपनी आत्मा की झांकी प्राप्त करना। यह योग द्वारा होगा। इसीलिये सारी तुम्हारी समस्यायें निराकृत होंगी। पालब्रण्टन ने विनम्रता पूर्वक पूछा—भगवन् ! मुझे इसके हेतु क्या करना होगा ? मुझे कौन से मार्ग का अनुसरण करना होगा ?

महर्षि—गहरा ध्यान लगाने से तथा निरन्तर आत्म-चिन्तन से ही प्रज्ञा-ज्योति पायी जाती है। योग ही इसका मार्ग है। पालब्रण्टन—इस पथ में गुरु की कोई आवश्यकता होगी ?

महर्षि—हां, आत्मानुसंधान में जो कुछ भी आवश्यक होगा उसे गुरुदेव साधक को अवश्य प्रदान करते हैं, परन्तु वास्तविक झांकी के लिए साधक को ही प्रयास करना होगा।

पालब्रण्टन—गुरु की सहायता के रहते कितने समय में साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है ?

महर्षि—यह सब जिज्ञासु के मन के परिपाक पर निर्भर करता है। बारूद में आग लगते कितनी देर लगती है, जबकि कोयले में आग लगने में देर लगती ही है।

आज पुनः तृतीय विश्व युद्ध की घटा छाने लगी है, जिसका अन्धकार अशान्ति, भय के रूप में समस्त विश्व में फैल चुका है। अपने अस्तित्व की झांकी पाये बिना मनुष्य बाह्य संसाधनों द्वारा चाहे जितना ही क्यों न उपाय करले परन्तु शान्ति-सुख-समृद्धि उसे आकाश-पुष्प ही सिद्ध होगा। अतः बाह्य समस्याओं तथा अन्तः समस्याओं का निदान भगवान पतञ्जलि के "चित्तवृत्ति निरोधः" तथा "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" से ही सर्वथा सम्भव है। पालब्रण्टन जैसी मानसिकता वाला तर्कशील उद्यमी, संयमी तथा कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति सद्गुरु कृपा को पाकर अपने लक्ष्य में सफलता ही पाता है। यदि हम थोड़ा-थोड़ा भी ध्यान के प्रति समर्पित हो जायें तो बहुत सी जीवन की सूक्ष्म तथा स्थूल समस्यायें स्वयमेव विनष्ट हो जायेंगी। अतः हर जिज्ञासु को, जो सुख-शान्ति की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें सद्गुरु संरक्षण प्राप्त करना होगा तभी आत्म-शक्ति जागृत होगी तथा दुःखों का निर्मूलन सम्भव हो सकेगा।

# शक्तियाँ एवं सद्गुरु-महिमा

श्री राजेन्द्रप्रसाद पाठक

सांसारिक प्रपंचों में भटकते हुये, नमाम एवं दुस्तर 'जीव' विशेष को पवित्र करने में समर्थ है नाम—जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, महात्माओं की संगति, यौगिक क्रियाएँ, योगियों एवं सद्गुरुदेव की देववाणी तथा उनकी दिव्यदृष्टि, जिनके कृपा प्रसाद से—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई ।
गोपद सिन्धु अनल सितलाई ॥
(मानस, सुन्दरकाण्ड)

जैसा कि सर्व विदित है कि संस्कृति की उत्कृष्टता का चरम परम - ज्योतिर्मय तत्त्व 'अध्यात्मवाद' है और जीव के कर्म प्रत्येक योनियों से आवृत हुआ अध्यात्मवाद का मणिमय मुकुट। मनीषियों की ब्रह्म साधना जहाँ एक ओर संस्कृति से प्रतिफलित होती है ठीक दूसरी तरफ लोक-कल्याण की भावना से सतत प्रतिबिम्बित ही नहीं बल्कि जीव के चैतन्य कोटि से अभिन्न भी। कर्म, जीव के जीवन कला की प्रतिफलित परिधि होते हुये हर आने वाली पीढ़ी के लिये सुनिश्चित केन्द्र का सुनिर्माण करता है।

निदान, इस विभ्रम भंगिमा को जन्मदायी का परिष्कार, वातावरण की रमणीयता से आप्लावित है या वैचारिक ऊहापोह प्रभा के मानस मकरन्द पराग से केन्द्रित—कहना अति कठिन है क्योंकि जीव हर क्षण कर्म एवं सम्बन्ध से अवलिप्त है चाहे वह कर्म या सम्बन्ध क्षणमात्र के लिये ही क्यों न हो किन्तु इस आनन्द से प्रतिफलित, सुख-दुःख की कोमल स्निग्ध छाया, शरीर पर कठोर आघात करते हुये, जबरदस्ती ध्यान आकृष्ट कर अधिशासित होने के लिये बाध्य करती है।

वैदिक एवं पौराणिक कलावृत्त में, सर्व-शक्तिमान अन्तर्यामी 'ईश्वर' का स्वरूप 'सच्चिदानन्द' शब्द से जगत में पल्लवित एवं पुष्पित है। 'सच्चिदानन्द' तीन शब्द सोपानों से मिश्रित है जिसमें 'सद् + चित् + आनन्द'—ही तथ्य संकेत है। 'सद्' का अर्थ है—जो सदैव से है और सदैव रहेगा। मरणधर्मा यह 'जगत' सदैव रहा है और सदैव रहेगा। 'चित्' का अर्थ है—'चैतन्य-स्वरूप', सर्वशक्ति सम्पन्न चैतन्ययुक्त 'ईश्वर' से निकले हुये जीव में पूर्ण चेतना है, चाहे वह चेतना ब्रह्मानुभूति से हो या काल वृत्ति से। अन्तिम कोटि अर्थात् आनन्द के अनुभवों के कारण अखिल संसार के सांसारिक दुविधाओं से आवृत होता हुआ भ्रमणशील बना रहता है। जगत की समस्त वस्तुओं में अवलिप्त न होकर उपभोग करना ही, ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति है। वासना एवं एकाधिकार से

परे सात्विक प्रेम को, ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न का प्रधान प्रारूप कहा गया है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी॥

× × × ×

सीतल सपनेहु सदै,
संसृति संताप रे।
बूड्यो मृगवारि खायो,
जेवरी को साँप रे॥

× × × ×

जाको जीव भयो संसारी -
छूटै गाँठि न होइ सुखारी॥
( रामचरित मानस )

'जीव' के कर्म, तथा हर कर्म वासनायें सुख के लिये ही होती हैं किन्तु अन्तिम कोटि दुःख के क्षेत्र में प्रतिफलित मिलती है सन्तोषजनक व्यवधान तो यह है कि सुख-दुख एकही सिक्के के दो पहलू की भाँति संलग्न ही नहीं बल्कि जीवन में चिर स्थायी भी है।

संसार में व्यक्ति चाहे जिस अगम्य स्थल पर निवसित क्यों न हो, उसका दायरा हर सामुदायिक समस्याओं से आच्छादित ही रहता है, चाहे वह सुप्तावस्था में हो या जागृत, चेतना में हो या अचेतना में। यह अनुभव है कि वह एक कर्म में उद्यत होते हुये भी तत्काल ही अनेकों कर्मों से प्रभावित होता रहता है जिसका प्रभाव तत्क्षण मनन की कसौटी पर देख सकते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि जिस तरह दैवी शक्तियाँ हठात् अपने प्रभाव से सुयोग्य एवं कुयोग्य नर पशु को अपना - अपना वाहन बनाकर कार्य सम्पन्न कराती हैं ठीक उसी प्रकार गुरु कृपा दृष्टि अपने भक्तों के ऊपर आने वाले दुःसह - दारुण घोर कलि के विषयान्तर प्रभाव को तत्काल हठात् निवारण कर देती है। प्रस्तुत है, 'सद्गुरु' की कृपा-दृष्टि, जिसकी कीर्ति को गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी मधुर वाणी से व्यक्त किया है—

श्री हरिपदनख मनिगन ज्योती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
( रामचरित मानस )

उपर्युक्त पारलौकिक यौगिक भावनाओं की ज्योति,स्नेह की पराकाष्ठा है कुसुमारविन्द में सद्गुरुदेव के दिव्य दृष्टि-विकिरण स्वयं वैसे ही आमन्त्रित हैं जैसे कमलपुट में विद्यमान, मोती या अभिसिक्त जलबिन्दु। प्रस्तुत है सद्गुरुदेव श्री प्रभु जी के दिव्य दृष्टिपात का ज्वलन्त उदाहरण।

"संवत, दिसम्बर सन् १९७५ का था जब मैं पूर्णरूपेण पागल हो गया था किन्तु मुझे आश्चर्य है कि उस पागलपन में ऐसा लगता था कि कण-कण तथा क्षण-क्षण में किसी परम ब्रह्म की पूर्ण सत्ता विद्यमान है, जो मेरे अन्दर में हठधर्मी बनकर रहने के लिये बाध्य कर रही हो, मुझे यह भी याद है कि मेरे लिये अपने शरीर, ध्यान तथा कर्तव्य-

निष्ठा पर काबू पाना तो कोरी कल्पना मात्र थी, पर इतना जरूर था कि मैं जो कुछ कर रहा हूं ठीक वैसे ही सत्यनिष्ठ है जैसे कोई सामुद्रिक नैया में बैठा हुआ अज्ञात पथिक।

कहना अति हर्ष एवं विषाद का न होगा कि मेरा उपचार डा० श्री प्रकाशचन्द्र बेरी के पास लगभग १० माह तक, अपने छोटे भाई के माध्यम से हुआ। अति प्रासंगिक है कि पूर्ण सहयोग एवं दवा के प्रयोग से लगभग ४०% ठीक हो जाने पर मुझे अपने कार्य में पुनः तल्लीन होना पड़ा—जैसाकि प्रासंगिक है।

'संसार ताप दग्धानां,
त्रयो विश्रान्त हेतवः।
अपत्यं च कलत्रं च,
सतां संगतिरेव च॥'

—विदुर नीति

लगभग फरवरी सन् १९८६ में डा० विजयसिंह (सेन्ट एड्रयूज डिग्री कालेज) के पास रुकने का सुअवसर मिला। रात्रि में मैंने अपने सारे कष्ट का यथोचित वर्णन कर दिया। किसी भी कष्ट के आने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। भले ही व्यक्ति विशेष उस परिपाक को छिपाने की कोशिश करे परन्तु कार्य और कारण में बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है।

डा० साहब एक सत्यनिष्ठ, धार्मिक एवं परिपक्व बुद्धि वाले कर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं जिन्होंने मेरे विद्यार्थी जीवन से आत्मीयता का स्थान दिया है अतः मुझे अपनी छोटी-बड़ी गलतियों के कहने में थोड़ी भी हिचकिचाहट न हुई। समस्तरूपेण गूढ़ रहस्यमय विभेदों को सहज भाव से सुनकर वे प्रभावित हो उठे—'राजेन्द्र तुम्हें थोड़ा पहले आना चाहिये था'—वैसे तो मैं इस संसार-सागर में बहते हुये तिनके के समान हूं किन्तु तुम्हारे योग्य इस परिस्थिति में आचरण करने के लायक एक उपाय है, यदि करो ...... (विशेष चिन्तित स्वर में)। उन्होंने बताया कि तुम योग योगेश्वर श्री प्रभुजी (योग प्रशिक्षण केन्द्र एत्मादपुर, आगरा) के चरणों में जाओ मुझे विश्वास है कि तुम स्वस्थ हो जाओगे किन्तु जाने से पहले उन्हें एक पत्र अवश्य लिखो। श्री प्रभुजी साक्षात् ईश्वर हैं। वे देखते ही तुम्हारी सारी बातों को 'आलस्य' स्थिति भाव से परख लेंगे। सत्य भी है—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमि विश्वतोवृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।"

'स (परमब्रह्म) अत्र तिष्ठद्
दशाङ्गुलम् (नाभिपर्यन्त से हृदयस्थ तक)'

—पुरुष सूक्त

पत्र में अपनी परिस्थिति को मैंने वैसे ही वर्णन किया है जैसे व्यक्ति एक दर्पण के सामने खड़ा हो। श्री प्रभु के चरणों में निवेदित पत्र का जवाब देर से, छुट्टियों के बाद लौटने पर मिला। जब मैं डा० साहब से अपनी

छुट्टियों में मिला तो पत्र के बारे में उन्होंने आग्रह किया। मैंने श्री प्रभु के पत्र न मिलने की निराशा व्यक्त की। दृढ़ निष्ठ भाव से उन्होंने आज्ञा दी कि ऐसा कभी हुआ ही नहीं है कि श्री प्रभु जी ने किसी के पत्र का अभी तक जवाब न दिया हो। श्री 'मासिक रूप से हृदयस्पर्शी ज्ञान श्री' देखो—इस समय श्री प्रभुजी के प्रवचन कलकत्ता में विवेकानन्द भवन में हो रहे हैं। यह लो पता और तुम वहाँ जाओ, ... जाओगे न...।

उस समय मुझे ऐसा आभास हुआ कि डा० साहब मेरे शारीरिक और मानसिक संवेदना के आघात को हृदय से खुद महसूस कर रहे हों। कलकत्ता जाने के दृढ़ विश्वास के साथ छुट्टियों के बाद जब विद्यालय आया तो पत्र-पेटिका में श्री प्रभुजी के कर कमलों द्वारा अङ्कित पत्र उनके मनोरम वाणी में निहित मिला।

'राजेन्द्र तुम्हारा चारपेज का पत्र मिला, तुम कलकत्ता आ जाओ मैं तुम्हारा उपचार अवश्य करूँगा।'

पत्र में अवस्थित मधुर आदेश [मेरे उस पागलपन अवस्था में, जिसमें मुझे कभी ऐसा लगता था कि संसार की तमाम शक्तियाँ मुझसे बात कर रही हों। कभी सोते-सोते उठकर बैठ गये और मुझे भजन,पाठ आदि में वर्णित तन्त्र-मन्त्रों के बाद सुनायी पड़ते तो कभी तमाम प्रेत-आत्मायें, अबाध-गति से पागलों की तरह गतिशील कार्य करने में तल्लीन कर बैठतीं।] मेरे अन्तर्गत ऐश्वर्ययुक्त तेज प्रदान किया और चार दिन की छुट्टियों में कलकत्ता के लिये [illegible] एक्सप्रेस से रवाना हो गया। रात्रि लगभग ११ बजे श्री प्रभुजी के प्रवचन निवास स्थल विवेकानन्द भवन, कलकत्ता पहुँचा। श्री प्रभुजी अपने विश्राम कक्ष में जा चुके थे किन्तु इतनी दूर की यात्रा सुनकर पास बुलाकर आश्वासन देते हुये, प्रातः ७ बजे मिलने को कहा तथा एक ब्रह्मचारी को बुलाकर आदेश दिया कि इन्हें प्रसाद ग्रहण कराकर विश्राम कक्ष में ले जाओ।

प्रातः श्री प्रभुजी के चरणों में मैंने अपनी सारी व्यथा का निवेदन करते हुये दो मुख्य रहस्यमय बातें बतायीं। एक यह कि मुझसे तमाम प्रेत आत्मायें बात करती हैं दूसरी यह कि मैं तमाम प्रकार के आसनों का उपयोग कर, इन-इन मन्त्रों तथा पुराणों का जाप एवं पाठ करता रहा हूँ।

एक क्षण मौन होकर श्री प्रभुजी ने अपनी मधुर वाणी में कहा-'सिद्धयोग आश्रम का यह विशेष प्रभाव है कि प्रेत आत्माओं को तत्काल शाप हो जाता है।' तुम उन्हीं मन्त्रों का हमारे आश्रम कक्ष में जप करो, जिनका अब तक करते रहे हो। थोड़ी देर जप करने के उपरान्त मुझे ऐसा लगा जैसे कि कोई जबरदस्ती श्री प्रभुजी के पास जाने के लिये

बाधा कर रखा हो। श्री प्रभुजी के पास जाकर निवेदन किया कि इस समय तमाम प्रेत आत्माओं की बाधा के कारण, मैं जप करने में असमर्थ हूँ।

श्री प्रभुजी ने मन्त्रोपदेश करते हुये, सुधी पुष्प मालिकाओं में से कुछ दिव्य पुष्प खाने को दिये और पूछा—क्या तुमने गुरु-मन्त्र (दीक्षा) ली है। नहीं, का उत्तर पाकर श्री प्रभुजी ने दीक्षा ले लेने को कहा और अपने कर-कमलों के संस्पर्शित दिव्य पुटों से मुझे दीक्षा दे दी।

दीक्षा के पश्चात् मैंने आश्रम का वातावरण प्रशान्त यौगिकवाद से अधिष्ठित पाया। जिसके एक कोने में बैठकर एक तांत्रिक अपने पाठ समाप्ति तथा श्री प्रभुजी के कार्यक्रम पूछकर मन्तव्य को गया। दूसरी तरफ श्री प्रभु के प्रवचन तथा ईश्वरीय मधुर संगीत का गुणगान हो रहा था। पास के ही कक्ष में विभिन्न प्रकार के [illegible]यों के विद्वान मनीषी अपने-अपने ज्ञान से आश्रम परिवेश को आलोकित कर रहे थे।' इस प्रकार के मधुर अभिन्न प्रशान्त परिवेश में श्री प्रभुजी की निर्मल वाणी में दीक्षा प्राप्तकर कृतार्थ हुआ। तभी तक बुद्धि निर्मल होती जा रही है। सभी खोयी हुई वस्तुयें भी अपने आप ही मुझे प्राप्त होती जा रही हैं मेरी कुण्ठित बुद्धि परिपाक हेतु योग योगेश्वर सद्गुरु श्री प्रभुजी के चरणों में अर्पित रहकर इस सत्य को अभिव्यक्त करती है—

गुरुः ब्रह्मा गुरुः विष्णुः गुरुः देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥
अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुः उन्मिलितम् येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

निष्कर्षतः उपर्युक्त सन्निवेश के समावेश में आधियाँ (मानसिक रोग), व्याधियाँ (शारीरिक रोग) दो ही व्यक्ति के जीवन में दुःख के कारण बनते हैं। इस दुःख की निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है जैसा कि सर्वविदित है—इस पृथ्वी पर ही 'स्वर्ग' तथा 'नरक' विद्यमान है।

आधयो व्याधयश्चैव द्वय दुःखस्य कारणम्।
तन्निवृत्तिः सुखम् विद्यात्, तत्क्षयो मोक्ष उच्यते
—योग वासिष्ठ

× × ×

जड़ चेतन, गुन दोषमय,
विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय,
परिहरि बारि विकार॥
—रामचरित मानस

सद्गुण एवं दुर्गुण प्रत्येक जीवों में होते हैं जो समय, वातावरण एवं संसर्ग के संयोग एवं वियोग उत्कर्ष एवं ह्रास को वैसे ही प्राप्त होते रहते हैं जैसे योगेन्द्र, कंचन के संयोग से पत्थर तथा धूल के संयोग से मिट्टी होने में देर नहीं लगती। क्षणिक स्वार्थ के लिये, सुविधा को अधिकार मानते हुए, जीवन में विश्वास का सहारा पाकर या

धक्का देकर, क्षणभंगुर देह घटक के लिये, किसी भी बात पर स्वयं विचार कर निष्कर्ष प्राप्त कर लेने वाले, ज्ञान के समान पवित्र तथा पवित्र करने वाला इस संसार में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। संसार में व्यक्ति केवल अपनी अज्ञानता से कष्ट पाते हुए कुमार्गी बन जाता है—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

वैसे तो शिक्षा एवं कर्म का सम्बन्ध एक-एक भाई तथा एक-एक पाई से सम्पर्श होता हुआ 'अणु' से 'विभु' तक है। 'अणु' का सम्बन्ध 'विभु' से है। अणु का विभु के प्रति समर्पण ही 'विस्फोट' शक्ति है। रजघटक जब तक अपने सीमित कलेवर से आबद्ध रहता है तब तक उसकी स्थिति पददलित धूलि जैसी नगण्य और उपहास्यपद बनी रहती है। किन्तु जब वही पददलित वस्तु आत्म-शक्ति एवं चेतना के साथ विराटरूप धारण कर लक्ष्य से मिलने के लिये आतुर होती हुई अपने परम्परागत आवरण को तोड़ने का साहस जुटाती है तो इस अथक तल्लीनता का प्रारूप, एक विस्फोट के रूप में आश्चर्य-चकित होकर देखा ही नहीं जाता बल्कि उससे निकलने वाले विकरण का प्रभाव कितना गहरा, कितना व्यापक और कितना चिरस्थायी होता है उसे यदि समझ नहीं सकते तो ज्ञान एवं कर्म-इन्द्रिय जनित सुखों की स्मृतियों के उत्क्रमण से अनुभव अवश्य कर सकते हैं।

निदान, शारीरिक उत्तुंग शिखर पर जमी हुई ज्ञानजन्य हिमकलेवर जब असीमता से असन्तुष्ट होकर, मोक्ष साधना की बात सोचता है तो उसे अपनी काया अवश्य गलानी पड़ती है। जीव की यह करुण सम्वेदना कर्म गंगोत्री से फूटती हुई वासना एवं एकाधिकार से परे, प्रयाण प्यासी सौम्य-रिकता की, कोटि ज्ञानात्मक भूमि को सींचने और प्राणियों के प्यास बुझाने की होती है इस आध्यात्मिक पौरुष का गंगावतरण कहते हैं। यद्यपि इस सृष्टि-जन्य कर्म से सभी इन्द्रियाँ अंग प्राप्त करती है किन्तु प्रभाव-कारी सौधारिक वासनायें शारीरिक एवं मानसिक हिमखण्ड से संस्पर्शित होकर भी, ज्ञान से शक्ति ही नहीं होती बल्कि कठि-नाइयों का सामना करते हुये, उस परमब्रह्म से शक्ति पाकर धन्य होते हुए देवताओं की तरह, अमरत्व भी प्राप्त करती हैं।

जीवात्मा सीमित है। बुद्धिमत्ता बताती है कि गम्भीरता छोड़कर असीमता का साथ छूट जाने से, जीव की हानि कम और लाभ अधिक है। संकीर्ण स्वार्थपरता की बेड़ियाँ ही भव बन्धन है। तृष्णा और मूढ़ता इसी स्थिति को कहते हैं। अन्तरात्मा में बिना स्वार्थ के ही व्यापकता एवं छल विहीनता के साथ सम्बन्ध की आतुरता, 'भक्ति' की परा-

कोष्ठा है। 'भक्ति' को भाव से 'कर्मों' में उतारने का नाम 'साधना' है। साधना कुछ नहीं दुःसाहस है उसमें बन्धनों को तोड़ने और महान् से मिलने की क्षमता होती है। जो सिद्ध पुरुषों के लिये, परेशानियों का सामना करने एवं लक्ष्य तक पहुंचाने में ज्ञान सोपान का कार्य करती है। जप, हवन तथा सँवादों उपवास एवं तीर्थ भ्रमण से मुक्ति नहीं मिलती किन्तु आत्मज्ञान के कारण, जीव और ब्रह्म की एकता से हुई अनुभूति अतुल अज्ञान को ध्वस्त कराकर शरीर को पवित्र करते हुये अनुशासित रखती है।

नमुक्तिकर्मणाबोमाद्युपाय मतैरपि ।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तोभवति जीवभृत ॥
श्री मद्भागवत महापुराण

सांसारिकता से समन्वित 'जीव' एवं जीवात्मा की कर्मवासनायें मूलतः भिन्न न होते हुये भी भिन्न-भिन्न चली जाती है। जीव अनश्वर है किन्तु जीवात्मक कर्मवासनायें घटना। प्राणधारियों के लिये ही सांसारिकता एवं जीवात्मक कर्मवासना शब्द का प्रयोग होता है। निर्जीव पदार्थों के लिये तो यह मृग मरीचिका जैसी कोरी कल्पना मात्र है। सुवर्ण की तरह चमचमाती संसार की हर वस्तुयें हृदय को लुभाने वाली ही नहीं बल्कि जबरदस्ती शरीर पर भी अधिकार करने-वाली है। अतः सांसारिकता का दार्शनिक रहस्य भी है किन्तु कर्म वासनाओं का घटनात्मक। अनेक दार्शनिकों ने इसे नकारा है किन्तु व्यक्ति के जीवन की यह सूक्ष्म एवं वास्तविक वास्तविकता शक्ति सम्पन्नता से भी परे है। परिविपूर्ण संसार पर विजय प्राप्त करने के बावजूद भी हार एक केन्द्र पर सुनिश्चित है जिसे न उपनिषद् झुठला सका, न गीता, न बाइबिल और न कुरानशरीफ। जीवन की यह अनिवार्य घटना एक निश्चित मौत की तरह ही नहीं बल्कि तीव्र गतिमान एवं बलखाता अगाध जल सम्पन्न सरिता तट-स्थित वृक्ष की भांति क्षणमात्र की निगलन से घटित होने में देर नहीं लगाती। स्पष्टतः, डराने वाले से डरती नहीं और डरने वाले पर दया भी नहीं करती जो उसका आवाहन करता है, वह उससे पीछे भी नहीं हटती और जो उसकी उपेक्षा करता है वह उसके पास भी नहीं फटकती। ऐसी स्थिति में आपके विचार विनिमय के स्वच्छता की तल्लीनता किस कोटि से प्रभावित होकर, विचार की पवित्रता व्यक्त कर सका है— कहा नहीं जा सकता। विचार ही जीव के सद्कर्म एवं कुकर्म की जड़ है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
—श्री मद्भगवद् गीता

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुषों की उन विषयों में आसक्ति (लगाव) हो जाती है, आसक्ति से (उन विषयों की) कामना उत्पन्न होती है (और) कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यन्त कुभाव उत्पन्न होता है। कुभाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है- स्मृति में भ्रम हो जाने से (वह पुरुष अपनी स्थिति अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष प्राप्त करने वाले शरीर से च्युत हो जाता है।

# शक्ति और शक्तिमान

**श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज**

जगत् का आवरण—शक्ति ही सारे जगत् का कारण है और वह शक्तिमान की इच्छा के अधीन कार्य करती है। शक्ति रहित शक्तिमान सृष्टि की रचना नहीं कर सकता और स्वतन्त्र रूप से शक्ति की कोई सत्ता नहीं होती। वास्तव में दोनों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है—दोनों एक रूप ही है।

शक्ति का आगमन—परमात्मा की शक्ति अनन्त है। वह अनन्त ब्रह्माण्ड का निर्माण करके भी अनन्त ही शेष रहती है। जब 'शक्ति' परमात्मा से उदय होती है, तब वह बहिर्मुख होकर सृष्टि के रूप में अपने को प्रगटाती है और अपनी अवशिष्ट (शेष) शक्ति के आधार से ब्रह्माण्ड को धारण करती है। इसी अवशिष्ट शक्ति को "वह सुप्तावस्था में है",—ऐसा कहते है। जब यह शक्ति अपने उद्गम स्थान अर्थात् परमात्मा की ओर जाने के लिए अग्रसर होती है, तब "शक्ति जाग गई",—यह कहा जाता है।

शक्ति की उपासना—जब शरीर की शक्तिमान से पृथक सत्ता ही नहीं है, तो शक्ति का स्तवन करना शक्तिमान का ही स्तवन या गुणगान हुआ। किसी भी व्यक्ति का गुण-गान, उस व्यक्ति का ही गुण-गान होता है। इस प्रकार जब हम आदि शक्ति की उपासना और पूजन करते हैं तो वह शक्तिमान की ही उपासना और पूजन कहलाता है।

शक्ति की अभिव्यक्ति—शक्ति शक्तिमान में बीज रूप से निहित है। शक्ति त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुणों की साम्यावस्था में वह 'अव्यक्त' कहलाती है और तीनों गुणों की विषमता होने पर उसे 'महत्तत्व' कहा जाता है। महत्तत्व के साथ 'अहं' की भावना आती है। फिर वह संकल्प (इच्छा) शक्ति द्वारा सोचता है। ज्ञान-शक्ति द्वारा सोची हुई बात को समझता है और अन्त में क्रिया-शक्ति द्वारा शक्ति की अभिव्यक्ति होने लगती है। इस प्रकार शक्तिमान अपनी शक्ति से अव्यक्त, महत्तत्व, अहङ्कार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच विषय तथा पांच महाभूतों को प्रगटाता है और सृष्टि की रचना प्रारम्भ हो जाती है।

सृष्टि की रचना—ब्रह्माण्ड की सारी दृश्य और अदृश्य माया चौबीस तत्वों की कृति है। पांच महाभूत, पांच तन्मात्राएं, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, अहङ्कार, महत्तत्व (बुद्धि) और अव्यक्त,—ये चौबीसों तत्त्व प्रकृति के अङ्ग है, अनात्म तत्त्व है, जड़ है और चेतन के सहकार से कर्म में प्रवृत्त होते है।

शरीर का निर्माण—शरीर के तीन प्रकार हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। प्रथम पंच-महाभूतों से 'स्थूल शरीर', बाद के अट्ठारह तत्त्वों से 'सूक्ष्म शरीर' और अन्तिम अव्यक्त से 'कारण शरीर' का निर्माण होता है।

मृत्यु—मृत्यु तो केवल स्थूल देह की ही होती है। सूक्ष्म और कारण शरीर कभी नहीं मरते। उनका आवागमन जन्म-जन्मान्तर तक जारी रहता है। मुक्ति पर्यन्त वे, पुराने देह को त्याग कर, नया देह धारण किया करते हैं। वास्तव में हम अमर हैं, कभी मरते ही नहीं। केवल हमारा शरीर बदलता रहता है अर्थात् केवल पंच-महाभूतों का यह आवरण ही मरता है, नष्ट होता है।

आत्मा—बन्धन-मुक्त आत्मा ही परमात्मा है और उस परमात्मा का अंश है 'आत्मा'। आत्मा का कोई रूप-रंग नहीं होता। वह न देखता है, न सुनता है और न समझता है। उसके कारण प्राण, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करते हैं। जैसे सागर के जल में और लोटे के जल में गुण-धर्म का भेद नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। शरीर की संचालन-शक्ति का प्रमुख आधार 'आत्मा' ही है।

जीव—मन और इन्द्रियों में आसक्ति रखने वाला बुद्धियुक्त आत्मा ही 'जीव' कहलाता है। जीव बद्ध है और पाप-पुण्यों का कर्ता-भोक्ता है।

प्राण—जीव की संचार-शक्ति को प्राण कहते हैं। प्राण आत्मा का तेज है, जो विद्युत की तरह नाड़ियों में प्रवाहित रहता है और इन्द्रियों का संचालक है। 'प्राण' एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में वाणी, स्पर्श और दृष्टि द्वारा संक्रमित भी होता रहता है।

प्राण-विद्या—प्राचीन काल में प्राणोपासना के बल से सूखे वृक्षों में भी जीवन डाला जाता था। प्राण-विद्या ब्रह्म-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। आध्यात्मिक शक्ति को जगाना ही प्राण-विद्या है। मन्त्रों का जप, तप, पूजा, पाठ, स्वाध्याय, यज्ञ, योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तथा अन्य सभी आध्यात्मिक साधन उस शक्ति को जगाने में सहायक होते हैं। उसी को आह्लादिनी शक्ति कहते हैं और वही कुण्डलिनी शक्ति है।

संसार-चक्र—सुख-दुःख के संस्कार अन्तःकरण पर अङ्कित रहते हैं। वे जब अंकुरित होते हैं, तब वासना का रूप धारण करते हैं। वासनायें क्लेशों को मजबूत बनाती हैं। क्लेश कर्म में प्रवृत्त करते हैं और कर्म ही सुख-दुःख के कारण हैं। यही सुख-दुःख अन्तःकरण पर फिर-फिर अपने संस्कार अङ्कित करके वासना के रूप में क्लेशों को बढ़ाते हैं। यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है।

साधक अपनी साधना द्वारा इस चक्रव्यूह को तोड़ता है और अनासक्त कर्म करके सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त बनता है।

शरीर-यन्त्र—मनुष्यों में मन, बुद्धि, अहङ्कार अधिक विकसित होते हैं, अन्य योनियों में कम। उद्भिजों से लेकर मनुष्यों तक के सभी शरीर पञ्च-महाभूतों से बने हैं। आत्मा सब में समान रूप से निर्लिप्त और असङ्ग है, परन्तु शरीर रूपी यन्त्र के अनुसार उसकी प्रतिभा कम अधिक नजर आती है। शरीर की उपाधि से आत्मा में कोई अन्तर नहीं आता। यदि मनुष्य-देह से सूक्ष्म शरीर निकल कर बन्दर के देह में चला जाय तो वह वहाँ बन्दर के दिमाग के अनुसार ही काम कर सकेगा। टाँग टूटने या आँख फूटने से आत्मा लंगड़ी या अन्धी नहीं होती।

माया का घूँघट—आत्मदेव अपनी ही किरणों से बने हुये सुनहरी घूँघट में स्वयं अन्तर्हित है। लोग इस घूँघट के सौंदर्य पर निछावर होते हैं और उस पर हजारों रहस्य-मय नाम लगा कर उसी की उपासना करते हैं। लेकिन साधक जानता है कि यह तो मायापति की माया है, भूल-भुलैया है। सूर्य तो अपनी किरणों में ही छिपा रहता है। यह सुहावना घूँघट, घूँघट नहीं, केवल उसकी किरणों का परदा है, उसकी शक्ति का दर्शन मात्र है। वह साधना द्वारा ऐसी क्षमता प्राप्त करता है कि शक्ति के उस तेज को सहन कर सके और घूँघट को उठाकर शक्तिमान के समर्पित हो जाय।

अव्यक्त ब्रह्म—'प्रपंच' छायावत् चेतन आत्मा के अधीन है, इसलिये उसकी सत्ता चेतन ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। इसे वैज्ञानिक भाषा में हम यों कह सकते हैं कि विद्युत सर्वत्र व्याप्त है, पर उसकी अभिव्यक्ति पॉजिटिव और निगेटिव दो रूपों में होती है, जिसे वैदिक साहित्य में सत् और असत् कहा गया है। एक के अभाव से दोनों का और विद्युत का भी अभाव हो जाता है, लेकिन फिर भी विद्युत अदृश्य रूप से तो रहती ही। इसी प्रकार सत् और असत् की उपस्थिति में व्यक्त और उनके अभाव में अव्यक्त ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहता है।

## ❁ आचार्य ❁

विद्या और सदुपदेश देने वाले गुरु का नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरु के पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, मन, वाणी और शरीर के द्वारा सब प्रकार से उनको सुख पहुंचाने की चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओं का पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

# मुद्रा और बन्ध

❀ योग पथ का एक पथिक

मुद्रायें निम्नलिखित प्रकार की है यथा—

(१) महामुद्रा (२) योनिमुद्रा (३) खेचरी मुद्रा (४) विपरीतकरणी मुद्रा (५) वज्रोली मुद्रा (६) शक्तिचालिनी मुद्रा (७) विपरीतकारी मुद्रा (८) वज्राणी मुद्रा (९) शक्तिधारणी मुद्रा (१०) ताड़ागी मुद्रा (११) माण्डूकी मुद्रा (१२ शाम्भवी मुद्रा (१३) नभो मुद्रा (१४) उन्मनी मुद्रा (१५) षाण्मुखी मुद्रा (१६) धारणी मुद्रा और इसके ४ उपविभाग जैसे (१७) पार्थिव धारणी (१८) आम्भसी धारणी (१९) वैश्वानरी धारणी (२०) वायवी धारणी।

इन २० मुद्राओं में से कुण्डलिनी योगी में सहायक शक्ति चालिनी, योनि और खेचरी यही तीन है।

### बन्ध

बन्ध मुख्यतः चार है यथा—

१—मूलबंध (२) महा बंध (३) जालंधर बंध (४) उड्डीयान ही है।

**(क) मुद्रा (ख) मुख्यबंध (ग) वेध**

उपर्युक्त मुख्य २ मुद्रायें, ३ बंध और वेध की संक्षिप्त विधि निम्न लिखित प्रकार की है यथा—

### मुख्य मुद्रा

**शक्तिचालिनी मुद्रा—**

**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।**
**ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥**

(हठयोग प्रदीपिका)

**शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।**

(शिव संहिता)

सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों से दोनों पैरों को एड़ियों को मूलाधार में जोर से दबावे, ठोड़ी हृदय में लगाकर जोर से श्वास प्रश्वास करे ताकि पेट की अंतड़ियों के दबाव में दोनों होने का प्रभाव मणिपुर चक्र पर पड़े और उसी के साथ गुदा संकोचन, प्रसारण करें। इससे मूलाधार की अपान वायु को दबकर मणिपुर की प्राण वायु पर पड़ने से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत होती है। इसका अभ्यास योगी के जितेन्द्रिय होकर लवण, खट्टा, तीता वर्जित परिमित भोजन अथवा केवल दुग्ध पान करके, काम, क्रोध, मोह, अहंकार रहित, त्यागवान हो कर प्रति-दिन कम से कम चार घड़ी पर्यन्त करने से सुप्त कुण्डलिनी के चलायमान होने में सहायता मिलती है। इसमें सन्देह नहीं।

(२) योनि मुद्रा—सिद्धासन लगाकर शरीर के ६ बाहरी द्वारों या छिद्रों को अंगुलियों तथा एड़ियों से यथोचित बन्द करें, दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से दोनों नासिका छिद्रों को बन्द करके, गुदा और लिंग को दोनों एड़ियों से अवरोधित करके, जीभ को कौवे के चोंच के समान बनाकर (पूरक प्राणायाम), वायु को अन्दर खींचकर मुँह (दोनों होठों) को कनिष्ठिका से बन्द करके कुम्भक से उसका मेलन अपान वायु से कराते हुए, षट् चक्र के प्रथम चक्र में कुण्डलिनी को ध्यान करे और "हुं" मन्त्र का मानसिक जप करे। इसके अभ्यास से सुप्त कुण्डलिनी का चालन होने में सहायता मिलती है। बिना शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यास से योनि मुद्रा सिद्ध नहीं होती। ❀❀

# आवश्यक—सूचना

( १ )

'सिद्धयोग' वर्ष १९ के लिए वार्षिक मूल्य में पांच रुपए की वृद्धि की गई थी। इसकी घोषणा से पूर्व अधिकांश ग्राहक भाई-बहिनों ने २५ रुपए वार्षिक मूल्य का मनीआर्डर ही कार्यालय को प्रेषित किया था। यद्यपि 'सिद्धयोग' उन्हें उनके पते पर भेजा जा रहा है। ऐसे अधिकांश ग्राहक बन्धुओं की ओर से बढ़े हुये मूल्य के बकाया ५ रुपए हमें मनीआर्डर द्वारा पुनः प्राप्त हो गया है किन्तु कुछेक से हमें यह बकाया राशि ५ रुपए अभी प्राप्त नहीं हुई है। इसलिये ऐसे सभी भाइयों से जिन्होंने २५ रुपए ही वार्षिक भेजे हैं ५ रुपए और भेज देने के लिये प्रार्थना है। रुपए मनीआर्डर द्वारा व्यवस्थापक 'सिद्धयोग' सवाई एत्मादपुर के पते पर ही प्रेषित होने चाहिये।

( २ )

'सिद्धयोग' के अनेक प्रेमी और प्रतिष्ठित ग्राहकों की सेवा में 'सिद्धयोग' का वार्षिक मूल्य नये वर्ष के विशेषाङ्क को वी० पी० द्वारा भेजकर प्राप्त कर लेने की परम्परा का भी पालन कार्यालय की ओर से पिछले वर्षों से होता रहा है। किन्तु वी० पी० भेज कर मूल्य वसूल करने की यह परम्परा ग्राहक और कार्यालय दोनों को असुविधाजनक होने के कारण अब बन्द कर दी गई है। 'सिद्धयोग' केवल उन्हीं को भेजा जा रहा है जिनका वार्षिक मूल्य ३० रुपए इस कार्यालय में जमा हो चुका है। अतः उन सभी भाई-बहिनों से जो वी० पी० पहुंचने पर ही अपना मूल्य प्रेषित करते थे यह निवेदन है कि वे वी० पी० की प्रतीक्षा में न रहकर अपना वार्षिक मूल्य ३० रुपए मनीआर्डर द्वारा ही कार्यालय को प्रेषित करने की कृपा करें, ताकि 'सिद्धयोग' निरन्तर उनके पते पर पूर्ववत् भेजा जाता रहे।

व्यवस्थापक
'सिद्धयोग' कार्यालय
सवाई एत्मादपुर आगरा।

---

## 'सिद्धयोग' की दुर्लभ सजिल्द पुरानी प्रतियां

योग की दुनिया में 'सिद्धयोग' अपने ढङ्ग का एकमात्र ऐसा पत्र है जिसमें उच्चकोटि के योग सम्बन्धी गवेषणा पूर्ण लेख और साधकों की अपनी निजानुभूतियां तथा महाप्रभुजी की प्रेरणाप्रद चरित्रगाथा और श्री सद्गुरुदेवजी महाराज के योग सूत्रों पर अपने अनुभव पर आधारित गम्भीर योगाङ्गों की सरलतम तथा सुबोध व्याख्या प्रकाशित होती रहती है। इसके पुराने वर्षों की अङ्क फाइलें जो कठिनाई से ही प्राप्त हो सकती हैं, सजिल्द रूप में बिक्रयार्थ कार्यालय में उपलब्ध हैं।

जिन्हें इन संग्रहीत अङ्क फाइलों की आवश्यकता हो वे प्रतियों के अङ्कों की एक जिल्द का मूल्य ३० रुपए भेजकर प्राप्त कर सकते हैं। योग-पथ के साधकों के लिये ये फाइलें अत्यन्त उपयोगी और दिशाबोध देने वाली साबित होंगी।

—व्यवस्थापक

SIT AYOGA—Regd. No. L. AG. 008 August 1986

प्रेषक कार्यालय :—

# सिद्ध योग

**योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र**

श्री सिद्धयुक्त योग प्रशिक्षण केन्द्र, बसई ( एत्मादपुर ) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

—❀❀❀—

श्री ..............................................................
..............................................................
..............................................................
..............................................................

## धर्म विशेष

मानसिक शक्तियों के साध लेने पर आत्मा एक दिव्य प्रतिभा से सम्पन्न हो जाता है, जो चमत्कार पूर्ण सामर्थ्य आत्मा का अभी तक एक प्रकार से सुप्त जैसी अवस्था में पड़ा था वह इस मानसिक साधना से जागृत हो जाता है। और आत्मा उस समय एक दिव्य शक्ति से सम्पन्न होता है। इस दिव्य शक्ति का नाम ही योग-ऐश्वर्य कहलाता है। मन को साधने की क्रिया का ही अपर नाम "योग" अथवा "समाधि" है। इस प्रक्रिया से आत्मा का जो दिव्य स्वरूप जागृत हो जाता है उसी को वैशेषिकों की दृष्टि में 'धर्म विशेष' कहा गया है।

—वैशेषिक दर्शन

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विला' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा-१ फोन ६२१६८